UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180143

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 84 P18N Acc No. H 1777

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 84 PI8N Accession No. H 1777

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

निबन्धिनी

गङ्गाप्रसाद पाण्डेय

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड
दिल्ली

मूल्य तीन रुपये आठ आने

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस
दिल्ली

इस पुस्तक में लेखक ने साहित्य के सत् और सनातन स्वरूप को समझने की साधना को अपने शब्दों में सँजोया है—इस आशा से कि साहित्य-सागर में संतरण करने वाले साधकों को इसमें कुछ सुख मिल सकेगा।

—प्रकाशक

सूची

१.	साहित्य का स्वरूप	- - -	१
२.	साहित्य कला	- - -	४
३.	साहित्य की उपयोगिता	- - -	१०
४.	जीवन और साहित्य	- - -	१४
५.	कला की कमनीयता	- - -	१६
६.	कवि की रूपरेखा	- - -	२४
७.	कहानी कला की कहानी	- - -	३०
८.	कहानी और उपन्यास	- - -	३६
९.	वर्तमान काव्य में वेदना	- - -	४९
१०.	काव्य में वेदना-माधुर्य	- - -	५६
११.	रंगमंच	- - -	६६
१२.	रहस्यवाद और छायावाद	- - -	७६
१३.	छायावाद की व्यापकता	- - -	८३
१४.	साहित्योपवन में नवल लताएँ	- - -	१०१
१५.	हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग	- - -	१०६
१६.	साहित्य में अंग्रेज़ीपन	- - -	१११
१७.	साहित्यिक अराजकता	- - -	११७
१८.	समालोचना	- - -	१२२
१९.	समालोचक का उत्तरदायित्व	- - -	१३१
२०.	साहित्य में 'वादों' का विवेचन	- - -	१३६
२१.	ग्राम्य-गीत	- - -	१४०
२२.	हिन्दी-साहित्य का भविष्य	- - -	१४४

१

साहित्य का स्वरूप

आधुनिक-युग व्यक्तिगत विचारों के प्रचार तथा जीवन की पार्थिव समस्याओं के स्पष्टीकरण का है। इस विचार-धारा ने साहित्य को भी एक बहुत ही संकुचित सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया है और कर रही है। मनुष्य-जीवन में सत्य की उपलब्धि साहित्य का सनातन साधन रहा है, किन्तु सत्य का सुन्दर रूप ही साहित्य में स्थान पाता है। सत्य की सीमा संकुचित कर देने से ही मनुष्य में परस्पर-विरोध-भावना बढ़ती है, किन्तु साहित्य के व्यापक सत्य में सभी विरोधों का मिलन हो जाता है। साहित्य का सत्य तर्क का विषय नहीं होता, वह तो अनुभूति का उपादान है।

हाँ, तो हिन्दी-साहित्य में आजकल साहित्य का लोकपक्ष लेकर लोग स्थूल जीवन के साथ साहित्य को घसीटना चाहते हैं, क्षणिक यथार्थ के लिए अपने वास्तविक यथार्थ को भुला देना चाहते हैं। लोग आवेश में आकर यह भूल जाते हैं कि साहित्य की कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं जो किसी देश के समाज से यथार्थतः मेल नहीं खातीं, क्योंकि साहित्य में मनुष्य का एक ही जीवन नहीं, वरन् अनन्त जीवन की अनन्त भावनाएं भी रहती हैं; इसीलिए जीवन अपूर्ण और साहित्य पूर्ण है।

मानवता की आत्म तथा अनात्म-भावनाओं की भव्य अभिव्यक्ति को ही साहित्य कहते हैं। वह किसी देश, समाज तथा व्यक्ति का सामयिक समर्थक नहीं है, वरन् वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक गुणों से अनुप्राणित रहता है। मानव मात्र में जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएँ तथा विचार-धाराएँ हैं वे ही साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। युग-युगों से मानवता की यही भाव-धाराएँ साहित्य संज्ञा पाती चली आ रही हैं। साहित्य में मनुष्य की वह भावनाएँ भी स्थान पाती हैं जिन्हें वह वास्तविक जीवन में कई कारणों से चरितार्थ नहीं कर पाता, क्योंकि हृदय की प्रेरणा से ही तो साहित्य का सृजन होता है, न कि किसी बाह्य आवश्यकता के अनुकूल। यही कारण है कि हम साहित्य में साधना और अनुभूति के बल

से अपने समाज और संसार से ऊँचे उठकर सत्य और सौन्दर्य का चिरन्तन रूप देखते हैं। ठीक ही कहा गया है कि साहित्य को समझने से और उसका स्थायित्व देखने से पता चलता है कि साहित्यकार अपने समाज और साथियों की अपेक्षा एक सुन्दर स्वनिर्मित समाज और देवताओं के साथ रहता है, तभी न उसकी सृष्टि इतनी सुन्दर होती है, इतनी सत्य होती है और सबके हित की होती है। इसी का नाम है साहित्य।

साहित्य विश्व-मानव का हृदय है। उसमें हमारे व्यक्तिगत हृदय की भाँति ही सुख-दुख, आशा-निराशा, भय, निर्भयता एवं अश्रु-हास का स्पष्ट स्पन्दन रहता है। इसीसे भाषा-रूपी शरीर की भिन्नता होते हुए भी हम सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में, भावों, विचारों तथा आदर्शों (भावनाओं) का सनातन साम्य-सा पाते हैं। सत्य की संस्थापना ही उन्नति का रहस्य है, यह विचार साहित्य में सब देशों में समान रूप से पाया जाता है। संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में जातिगत, वर्णगत और धर्मगत चाहे जितनी भी बाह्य भिन्नता क्यों न हो, किन्तु आन्तरिक रूप से हमारी भाव-धारा तथा जीवन-मरण की समस्या एक-सी ही है। प्राकृतिक रहस्यों को देखकर चकित होना, आकृतिक सौन्दर्यों से पुलकित होना, सभी के लिए सब देशों में समान है।

जीवन की नश्वरता तथा अपूर्णता का अनुभव सभी करते हैं, और इसका मर्म जानने के लिए सभी उत्सुक भी रहते हैं। सौन्दर्य-दर्शन की पिपासा सभी में बराबर है और इसी नाते हम वाल्मीकि, होमर, दाँते, गेटे, शेक्सपियर तथा कालिदास को एक रूप में पाते हैं, क्योंकि साहित्य एक ऐसा दर्पण है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी हृदयगत भावनाओं की विशेषताओं को, अपनी अच्छाइयों-बुराइयों को, अपनी वीरता-भीरुता को, अपनी हिम्मतों-कमज़ोरियों को तथा अपनी प्रेम-लीलाओं और घृणामयी प्रतिमाओं को, सारांशतः उन सभी मानसिक व्यापारों को जिसमें मानव-मात्र व्यस्त रहता है, देख सकता है। इतना होते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि साहित्य केवल कल्पनाओं का क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मानसिक सृष्टि मात्र है, वरन् वह स्थायी विचारों के मानसिक विकास का एक सुन्दर चित्र है जो कि सत्य और सनातन है।

साहित्य की ऊपर की गई परिभाषा के विरुद्ध जब उसे लोग अपने सामयिक जीवन के साधनों में सीमित करते हैं तब बड़ा क्षोभ होता है। साहित्य तो युग-युगों के महान् पुरुषों के मननशील प्राणों के आन्तरिक सत्य का आभास है, फिर यदि हम उसे जीवन के स्थूल सत्य से तोलना चाहें तो वह कैसे पूरा उतरेगा! मनुष्य तो एक परिवर्तनशील प्राणी है; उसके नियम, समाज, सभी समय-

समय पर परिवर्तित होते रहते हैं, क्योंकि हम देखते हैं जो कल था वह आज नहीं है और जो आज है वह कल नहीं रहेगा, फिर क्या पता जो आज ठीक है कल गलत हो जाय ! इस परिवर्तनशीलता में मानव की कुछ स्थायी सम्पत्तियां भी हैं ; साहित्य उनमें से मुख्य है ।

अस्तु, जीवन की स्थायी सम्पत्ति का उपयोग हमें उत्तेजना में आकर किसी सामयिक क्षणिकता में नहीं करना चाहिए । इस समय भारत के साहित्य की वही दशा है जो कभी फ्रांस एवं रूस के साहित्य की थी, परन्तु अन्त में वे दोनों देश अपनी भूलों को मान गए और साहित्य को सामयिक आन्दोलनों का साधन बनाने का बुरा फल अब तक पा रहे हैं ।

२

साहित्य-कला

अनुभूति की प्राची पर ही कला का उदय होता है। कला की जीवित सत्ता के मूल में जो प्राण-प्रवेग का सतत क्रियाशील फव्वारा है, उसमें जीवन रस की संचालिका और संचारिणी मानव-जीवन की प्रकृति अनुभूति ही है। अनुभूति के विद्युत्-वृत्त पर अंकुरित कला की चिरन्तन ज्योति अनुभूति की क्षणिक सत्ता के सहारे ही अपना विकास करती है, और इस विकास की पूर्णता युग-युग, पीढ़ी-दर-पीढ़ी की मानवीय चेतन-अनुभूति की लहरों पर नाचती हुई अनंत की अमर संज्ञा हो जाती है। यही कला की चरम परिणति है, सनातन प्रगति है। मानव के भीतर चेतना का एक निगूढ़ और निरन्तर आवेग है, जो उसके सप्राण एवं सजीव होने का मुख्य प्रमाण है। अनुभूति इसी चेतन-आवेग की सच्ची, सजीव और साकार प्रतिनिधि है। यों तो विचार भी मानव-मन में उद्वेलित सचेतन-शक्ति के प्रतिनिधि होते हैं, किन्तु विचारों में निरपेक्ष साकारता ही आ पाती है, सापेक्ष सप्राणता नहीं। अनुभूति में प्राणी की प्राण-प्रस्थित सजलता और प्रज्ञा-प्रस्थित कोमलता अनुप्राणित रहती है; वह मानव-जीवन के अमरत्वप्रद क्षणिक क्षणों की सबसे कोमल और कमनीय वाणी है। मानव का जीवन केवल जीवन-यापन की जटिल समस्याओं, जीवन की तृप्त अभिलाषाओं तथा दैनिक कार्यों की आशा-निराशाओं का ही जटिल जाल नहीं है। ये सब तो मनुष्य के पार्थिव अस्तित्व के मांस-मज्जामय अस्थि-पिंजर हैं, मृतक प्राणी के शव-जाल हैं, निष्प्राण मृत्तिका के ढेर-से हैं। प्रगूढ़ आलोक की सतह पर तो आदि से अंत तक मानव-जीवन केवल मृत साँसों के तार में उलझा हुआ एक छाया-रहस्य है, एक सारहीन पहेली है; उसमें कभी-कभी कुछ ऐसे क्षण आकर मिट जाते हैं, जो इस निस्सार और नीरस सत्ता को जीवन के रस से सरस और सफल कर देते हैं। द्रौपदी के दुकूल की भाँति अनंत निष्प्राणता की नींद भंग करनेवाले ये क्षण अपनी अमरता में मानव को भी अमर कर जाते हैं। इन्हीं क्षणों में जीवन का साफल्य और 'महाजीवन' का सान्निध्य प्रोज्ज्वल है।

सौन्दर्य-उपासना प्राणी के अस्तित्व की प्रथम एवं अंतिम साध है। सौन्दर्य

के शाश्वत प्रकाश की रेखाओं का स्पर्श ही सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। आदि-पुरुष का सहज-सरल हृदय आदि-प्रकृति के सौन्दर्य से आवेगपूर्ण हो गया, आँखों में एक प्रतिभा अंकित हो गई, स्मृति के चंचल पट पर एक स्वप्न अपनी क्षणिकता के भीतर अमरता की साधना लेकर नृत्य करने लगा, अग-प्रत्यंगों में एक विचित्र सिहरन उमड़ पड़ी। उसके ओठों पर कुछ हिलने-सा लगा, हाथों में एक मधुर कम्पन मचल उठा; स्वप्न को अमर आकार देने के लिए प्राण-आवेग स्पदित हो उठा। उपनिषदों के मतानुसार प्राणी के अन्तर में स्थित आत्मा उसी महान् आत्मा की आंशिक स्थिति है, उसी महान कलाकार की एक विच्छिन्न ज्योति-किरण है। अतः मानव भी सौन्दर्य का भावात्मक द्रष्टा है। उसकी स्मृति के कोष में अनेक स्वप्न झाँकते हैं, जो साकार होने के लिए निरन्तर विवश रहते हैं। अपने इन्हीं स्वप्नों को साकार करने की साधना ही मानव का सृष्टि-उत्पादन है। जिस भाँति यह निखिल सृष्टि, सम्पूर्ण दृष्ट प्रकृति, उस महान् कलाकार के स्वप्न की साकार प्रतिमा है, उसी प्रकार मानव भी अपने स्वप्नों की साकार प्रतिमाएँ निर्माण किया करता है; यह सृजन या अनुवादन-साधना ही मानव की कला का मूल तत्त्व है।

इस पृथ्वी की वस्तुएँ, घटनाएँ और दृश्यावलियाँ जब किसी भी भाँति हमारी इन्द्रियों (senses) के संस्पर्श में आती हैं तो वे हमारे भीतर एक रागात्मक उद्वेग की सृष्टि करती हैं जो हमारे स्वभावसुलभ कार्य में समाप्त होता है। एक सुनसान बन में सिंह को देखकर सहसा एक स्नायविक स्पंदन हमारी नस-नस में दौड़ जाता है और यदि हम उसको बरबस शांत न करें तो उस स्थल से भागने में ही वह अपनी समाप्ति करता है। यह स्नायविक कंपन, जिसका अंतिम परिणाम वास्तविकता से भागना है, हमारे हृदयों में एक विशेष प्रकार की संज्ञा जाग्रत कर देता है, जिसको हम भय का भाव कहते हैं। मानव-जीवन अधिकांश सवेदनशील (sensible) पदार्थों की इन्हीं रागात्मक प्रतिक्रियाओं तथा उनसे संयोजित भावों से निर्मित है। किन्तु मनुष्य में एक विशेष गुण और है—वह है बीते हुए अनुभवों तथा भावों की प्रतिध्वनि को फिर से आह्वान करने की प्रवृत्ति। इसी को हम उसकी कल्पना-शक्ति के नाम से संबोधित करते हैं। इस प्रकार मनुष्य के दो प्रकार के जीवन हो जाते हैं—पहला वास्तविक जीवन और दूसरा कल्पना का जीवन। दोनों में बड़ा अन्तर है। रागात्मक-प्रतिक्रिया (Instinctive reaction), जैसे कि विपत्ति से भागना, वास्तविक जीवन की मुख्य विशेषता होती है, और चेतना का समस्त प्रवाह उसी ओर मुड़ा हुआ रहता है। किन्तु काल्पनिक जीवन में ऐसी प्रतिक्रिया आवश्यक नहीं होती और इस प्रकार सारी संज्ञा और चेतना संवेदनशील और भावात्मक पक्ष पर केन्द्रीभूत कर दी जाती है। इस प्रकार हम अपने काल्पनिक जीवन

में पदार्थों का विभिन्न मूल्य तथा भाव-सस्पर्श की एक विभिन्न गति पाते हैं। कला का उद्गम इसी काल्पनिक जगत् से है। यह कल्पना का जगत् किसी व्यक्ति-विशेष की एकाधिकारिणी सम्पत्ति नहीं, वरन् किसी-न-किसी परिमाण में कल्पना-जगत् का कुछ-न-कुछ अंश सभी में सन्निहित रहता है। कला की कृतियाँ मूलतः इसी कल्पना-जगत् से अपना सम्बन्ध रखती हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि कला वास्तविक जगत् से बहुत दूर की वस्तु है। स्वरूप तथा तत्त्व की दृष्टि में वास्तविक जगत् से कल्पना-जगत् भिन्न नहीं, केवल अन्तर है इन्द्रियों की रागात्मक प्रतिक्रिया के अस्तित्व का। दूसरे यह भी अभिप्राय नहीं कि वह वास्तविक जगत् की प्रतिलिपि है। संक्षेप में कला काल्पनिक जगत् की अभिव्यक्ति तथा उसकी उत्पादिनी है।

सभी कलाओं की आत्मा के तीन मुख्य तत्त्व हैं—पहला क्रियात्मक या सृजनात्मक प्रवेग (creative urge), दूसरा आंतरिक चित्र तथा तीसरा उसका बाहरी अभिव्यंजित स्वरूप। सृजनात्मक प्रवेग एक अस्पष्ट एवं रहस्यमयी स्फूर्ति है, जिसको हम दैविक व्यग्रता (divine unrest) कह सकते हैं। यह बिरले ही क्षणों को अनुरंजित करती है। आंतरिक चित्र वही हमारा ऊपर वर्णित काल्पनिक जगत् है, जिसमें वास्तविक जगत् के पदार्थों के प्रतिबिंब अंकित रहते हैं; और यही प्रतिबिंब-समूह भौतिक अभिव्यंजित रूप धारण कर लेता है। इन तीनों तत्त्वों में कोई भी एक दूसरे से अधिक महत्व का नहीं। सभी अपने-अपने परिपूर्ण रूप में वांछनीय हैं। दैविक जागृति होने से अथवा भावना का आदिमूलक होने से सृजनात्मक प्रवेग अकेले कोई विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि यदि परिणामरूप में कोई आंतरिक चित्रण का प्रादुर्भाव न हो तो कोरे स्फूर्ति-कंपन का अभिप्राय ही क्या, और मूल्य ही क्या? ऐसे असख्य स्फूर्ति-कंपनों की अस्पष्ट छाया चाहे क्षण क्षण में अवतरित होती रहे, उससे क्या निर्देश? उसी भाँति यदि कला का आन्तरिक चित्र अभिव्यक्ति के रूप में भौतिक विश्व में न उतरे तो उसकी सत्ता ही क्या, उसकी आवश्यकता ही क्या है? सारांश यह कि कलाकार की प्रतिभा में तीनों तत्त्वों का प्रादुर्भाव, विकास और पूर्ण प्रकाश परम वांछनीय है। सच्चे और उत्कृष्ट कलाकार की आत्मा इन्हीं अविच्छिन्न गुणों से परिपक्व रहती है। ऐसे ही प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों के विषय में कहा जाता है—

"ललित कला के इतिहास में समय-समय पर कुछ ऐसे व्यक्ति आते हैं, जिनकी कृति में एक निराला और गूढ़ तत्त्व निहित है, जिसके कारण वे अपने समकालीन कलाकारों से विभिन्न हो जाते हैं तथा उनको किसी प्रचलित प्रणाली एवं ज्ञात श्रेणी में भी विभक्त करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि वे अपने ही सदृश होते हैं, जैसे मानो मौलिक कलाकारों का एक स्थानहीन और समयहीन क्रम हो।"

आत्म-दर्शन कला का मूल उद्देश्य है; अपने में आभ्यंतरिक जो सत्य है उसे देखने और दिखलाने में ही कलाकार की चरम साधना है। कला की यह निजी 'सत्' की उपासना समष्टिवादी नहीं हो सकती; इसका आदि और अंत दोनों ही व्यष्टिवादी अर्थात् व्यक्तिवादी हैं। समष्टि के भौतिक अंग छूकर कला अपने वास्तविक स्वरूप को खो देगी; वह स्वर्ग की अप्सरा, पार्थिव विश्व का खिलौना-मात्र रह जायगी। समाज की वस्तु होकर कला वास्तव में कला न रहेगी। राजनीति अथवा अर्थशास्त्र की भाँति वह भी समाज की समस्याओं में ही अपनी चरम परिणति निर्दिष्ट करती रहेगी। वह इन सारी समस्याओं के परम समाधान, परम सत्य 'महामानव' को न प्राप्त कर सकेगी, जो सृष्टि की मूल प्रेरक-शक्ति है, विश्व की केन्द्रीभूत सृजन-स्फूर्ति है। आज का व्यक्ति राजनीति और अर्थशास्त्र में ही मानव-जीवन के चिर-कल्याण के साधन देख रहा है। अपने से विमुख और आत्मा से उदासीन होकर आज का समाज जगत् के चिरन्तन मंगल प्रभात के स्वप्न देखता है। समाजवाद के नाम पर जीवन के आत्मिक और सात्विक तत्वों का जो नृशंस बलिदान हो रहा है, और कला की जो दुर्गति हो रही है, उसके मूल में स्थित उद्देश्यों के साधन कितने प्रमादपूर्ण हैं? आभ्यंतरिक धरातल से अंकुरित अशांति एवं असंतोष का उपचार ऊपरी सतह पर उगे हुए दोषों के समान किया जा रहा है; वास्तव में प्रगतिशील समाजवादी मूल को न पकड़कर पत्तों से झूल रहे हैं। आज का व्यक्ति समूह में सोचता है, कक्षाओं में सोचता है, और इसका भयंकर परिणाम प्रतिफलित हो रहा है। सभ्यता का विनाश जन्म तथा मरण व्यक्तिगत हैं, एकात्म हैं; विचार और विकास समष्टि-आत्मक नहीं, वरन् व्यक्ति-वादी हैं, स्वयमेव-प्रस्थित हैं; मानव का प्रत्येक चरम सत्य उसका अपना है, एकाकी है। जिस समय मनुष्य एकाकी रहना अथवा 'निज का निजी' होना स्थगित कर देगा, वह जीवन की वास्तविकता तथा आत्मिक सत्य से बहुत दूर पड़ जायगा। यहीं से जड़वाद का प्रारम्भ होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला का प्रस्फुरण अनुभूति के स्रोत से होता है; और अनुभूति व्यक्ति की ही, केवल अपनी व्यष्टि की ही हो सकती है, समाज एवं समष्टि की नहीं। इसलिए कला में व्यक्ति की ही अभिव्यंजना होती है, सम्पूर्ण समाज की नहीं। कलाकार अपनी व्यक्तिगत साधना का सम्बल पकड़कर जगत् के मूल में निरन्तर प्रचलित जीवन के संघर्षों से युद्ध करता है, अपने लिए एक साम्राज्य की साधना करता है। इस साधना में जीवन के संघर्ष से उसकी स्नेह-मैत्री हो जाती है; उसकी साधना की वीणा में उसके स्वर के प्रेम-निमंत्रण को स्वीकार कर विश्व-जीवन का स्वर भी मुखरित होने लगता है। यही कलाकार की

विश्व-जीवन-अनुभूति है, यही उसकी विश्व-प्रेम भावना है। अपने निज को नगण्य कर मानव कुछ भी नहीं कर सकता। हमारा सम्पूर्ण जीवन अपने को लेकर है, हमारी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ, साधनाएँ और आराधनाएँ हमारे व्यक्तित्व को अपना केन्द्र बनाकर चलती हैं। जीवन-संघर्ष के घोर वनों में निरन्तर पर्यटन कर मानव कुछ अनुभव संचित कर पाता है। परम सत्य की प्राप्ति के मार्ग में वह अपने व्यक्तित्व का आत्मघात कर चल नहीं सकता। कितना अतल जीवन-सागर है! कलाकार इसकी लहर-लहर को बेधकर अपने अनुभव संचित करता है, वे उसके निज के अनुभव न होकर सम्पूर्ण विश्व के अनुभव हो जाते हैं, क्योंकि आत्मा का सत्य एक है और कलाकार आत्म-दर्शन से उसको पा जाता है। व्यक्ति स्वयं सत्य है, स्वयं चिरन्तन है, स्वयं शाश्वत है; समाज स्वयं सत्य नहीं, स्वयं चिरन्तन नहीं, स्वयं शाश्वत नहीं। इसलिए व्यक्ति के अनुभव स्वयं सत्य हैं, स्वयं पूर्ण हैं और स्वयं चिरन्तन हैं।

कला मेघ-परी के समान स्वच्छंद एवं विमुक्त है। किसी भी प्रकार का आरोप—नैतिक हो अथवा धार्मिक—उसके लिए परम घातक है। नीति और धर्म भावों को उनके परिणामभूत कार्यों की कसौटी पर कसकर अपनाते हैं; कला का पथ इससे भिन्न है। "कला भावों को केवल भावों में तथा भावों के लिए ही अपनाती है"। वह मानव के अंतराल में विचरते स्वप्न की सजीव अभिव्यंजना है, जिसमें भाव ही साधना हैं और भाव ही साध्य। अतः उसका मूल्य उसकी जीवन पर प्रतिक्रिया की दृष्टि से आंकना कितना बड़ा अन्याय होगा? जीवन की प्रतिक्रिया तथा जीवन पर प्रतिक्रिया का क्षेत्र तो धर्म तथा नीति का है; कला का क्षेत्र तो इससे कहीं ऊपर है। इनके सिद्धांतों का आरोप करने से तो उस स्वच्छन्द कोकिला का सहज-सुलभ कंठ अवरुद्ध हो जायगा।

कला का सम्बन्ध हृदय में स्थित चेतना के अंकुर से है। ससीम स्थूलता को पारकर वह असीम सूक्ष्म के उस पार पहुँचती है, जहाँ सत्य और कल्पना दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। विज्ञान और नीति केवल भौतिक संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं, दृष्ट जगत् की सतह पर जो कुछ है, उसका विकास कर सकते हैं, किन्तु भौतिक जीवन और पशु-जीवन कोई दो बात नहीं; वह पूर्ण मानव-जीवन नहीं, भौतिक के साथ मानसिक का समन्वय ही पूर्ण मानव-जीवन है। कला इसी मानसिक जगत् की जननी तथा पृष्ठ-पोषिणी है।

आजकल 'कला कला के लिए' सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार है। इसका अभिप्राय है कि कला अपने ही से संबंधित है; जीवन के किसी सम्पर्क का उसमें चिन्ह नहीं तथा उसका जीवन के प्रति कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं। वास्तव में यह सिद्धांत

भ्रममूलक है। कला हमारी भावनाओं, हमारी अनुभूतियों की सजीव अभिव्यंजना है और ये भावनाएँ और अनुभूतियाँ हमारे जीवन की ही हैं, सृष्टि के चेतन जगत् की ही हैं। कला हमारे अन्तर्जगत् को व्यंजित करती है। हमारा अन्तर्जगत् कोई अन्य लोक की वस्तु नहीं, किसी तारालोक की कल्पना-मूर्ति नहीं, वह इसी बाह्य जगत् की वस्तुओं को अपनी आत्मा में प्रच्छन्न किये हुए है, वह इसी दृष्ट दिन-प्रतिदिन के भौतिक विश्व को लेकर चलती है। अनुभूति इस जगत् की है, आधार भी इस जगत् का है और उद्रेक तथा प्रति-उद्रेक भी इसी जगत् में होता है। अनुभूति, आधार और उद्रेक का इस जगत् में अस्तित्व केवल जीवन के ही कारण है, जीवन को ही लेकर है। फिर कला जीवन से विच्छिन्न कैसे, और विच्छेद की कल्पना ही क्यों? कलाकार की साधना भी तो जीवन से ही प्रारंभ होकर जीवन में ही निगूढ़ हो जाती है। मूर्त जीवन में अमूर्त जीवन को, स्थूल रूप में सूक्ष्म अरूप को, सामीप्य की सम्पत्ति और सिद्धि बनाना ही कलाकार की साधना है। अपनी अनुभूति की अचल तन्मयता में एकात्म अनुभव की भावना में, वस्तु-तत्त्व को भेदकर वह चिरन्तन प्राण-तत्त्व का उन्माद स्पर्श पाता है और आत्म-विस्मृत होकर महान् सत्य की व्यंजना में फूट पड़ता है। क्षणभंगुर शरीर से वह अमर आत्मा की ओर अग्रसर होता है, प्राण को लेकर महाप्राण को पीने दौड़ता है।

कुछ पाश्चात्य आलोचकों का कथन है कि भारतीय कला में यथार्थ का तत्त्व नहीं के बराबर है, किन्तु यह उनके अध्ययन का अभाव है। किसी भी देश की कला को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए प्रथम यह आवश्यक है कि उस देश की संस्कृति एवं जीवन-धारा का कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लिया जाय। रूपकात्मक अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति की विचार धारा में एक प्रमुख तत्त्व रही है। भारतीय कवि एवं कलाकार बाह्य चित्रण में इतनी प्रगल्भता नहीं दिखलाता, क्योंकि बाह्य तत्त्व से तो संपूर्ण प्रकृति भरी पड़ी है, फिर उसके अनुवाद-मात्र से प्रयोजन ही क्या? वह रसोद्रेक के लिए एक कलात्मक संकेत करता है, जो बाहरी विवरण से अधिक भावोद्रेक करने-वाला है और फिर भारतीय कला को पूर्णतया रूपकात्मक ही कहना भी असत्य है। हमारी संस्कृति में तथा देश में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनका नाम भी पाश्चात्यों ने नहीं सुना होगा; अतः वे पदार्थ भी उन्हें रूपक ज्ञात होते होंगे। यूरोप में हाथी नहीं होता, अतः भारतीय कला में हाथी के चित्र को देखकर रूपक का उन्हें भ्रम हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। रूपक और संकेत द्वारा अभिव्यक्ति बिना यथार्थ के नहीं हो सकती। हाँ, यथार्थ को कल्पना के रंग से कुछ अतिरंजित अथवा संश्लिष्ट किया जा सकता है, किन्तु यथार्थ को तो विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि यथार्थ ही श्रेष्ठ एवं सच्ची कला का अस्तित्व-स्तंभ है; किन्तु कलात्मक ढंग से वही कला है।

३

साहित्य की उपयोगिता

साहित्य विचारशील आत्माओं की अमर अभिव्यक्ति है। उसमें जीवन सम्बन्धी उन विशेष विचारों का संकलन होता है जो हमारे यथार्थ जीवन को प्रगति देते हैं। वास्तव में साहित्य हमारा शब्द-जीवन है, क्योंकि सभी साहित्यकार जीवन की जटिलता तथा विरसता एवं सरसता का उपयोग करने के बाद ही उसको अपनी शब्द-सीमा में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। मानव-प्रकृति के अनुसार उसकी सृष्टि, साहित्य, में भी दो प्रधान विषयों का निदर्शन रहता है। अन्तर्जगत और बाह्य-जगत इन दोनों की अलग-अलग संज्ञा होते हुए भी साहित्यकार दोनों को मिलाकर एक अभिनव जगत् की सृष्टि करता है। उस स्थिति-प्रसूत साहित्य में अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् में कोई विभेद नहीं रह जाता। मानव का स्वयं निर्माण आत्मा और शरीर के दो भिन्न उपादानों से हुआ है, किन्तु जीवन तो इन दोनों का सम्मिलित सुफल है। साँसों से बाह्य शक्ति भीतर जाती है और अन्तर्शक्ति बाहर आती है; यही जीवन का सनातन स्रोत है। जीवन में प्रत्यक्षतः हमें दो प्रकार के प्रयोजनों की आवश्यकता पड़ती है—एक, जो हमारे शरीर को स्वस्थ, स्निग्ध तथा सुन्दर रखे; दूसरा, जो हमारी आत्मा को प्रकाशित करने में सहायक हो। भारतीय आदर्श के अनुसार जीवन में आध्यात्मिक आधार को ही प्रधानता दी गई है। आज के वस्तुवाद से आकुल-व्याकुल युग भी महात्मा गाँधी का सम्मान उनके सुन्दर तथा सुगठित शरीर के लिए नहीं, वरन् उनकी आत्मा की विकास-सत्ता के लिए ही करता है। जीवन की भाँति साहित्य के भी दो प्रयोजन हैं। एक की उपयोगिता हमारे बाह्य, यथार्थ जीवन में है और दूसरे की हमारे आध्यात्मिक, अन्तर्जीवन में। हाँ, जीवन तथा साहित्य के प्रयोजनों में अन्तर अवश्य है, क्योंकि जीवन के प्रयोजन हमारे अपने हैं, सीमित हैं और देश-काल की परिस्थितियों से घिरे हैं; किन्तु साहित्य के प्रयोजन अपनी एकता में अनेकता को समेटे रहते हैं, वहाँ पर एक का अनेक से विरोध नहीं, वरन् अनेक में एक भी

निहित है । जीवन में ऐसा नहीं, क्योंकि जीवन में शारीरिक तथा आत्मिक विकास की भिन्नता रहती है ।

साहित्य समन्वय का ही सुफल है । वास्तव में, साहित्य में क्षुद्र कण से लेकर महान् पर्वत तक सभी सम्मिलित होते हैं । वहां पर सीमित और असीमित में विरोध नहीं । वहां की चरम साधना सब तत्त्वों के सामंजस्य करने में ही सफल होती है । साहित्य का भी एक अपना आदर्श होता है जो जीवन की अन्तश्चेतना तथा सौन्दर्य-भावना का द्योतक है । मानव-मन की यह भावनाएं सारहीन नहीं हैं, वरन् आनन्द-उपलब्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं । भव्य भावनाएं केवल पार्थिव उपयोग की साधिका नहीं, किन्तु मन और आत्मा की भी पोषिका हैं । अस्तु, अब सोचना यह चाहिए कि क्या साहित्य की उपयोगिता हमारी बाह्य-आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ही है, या उसका कुछ और उद्देश्य भी है ।

यह विज्ञान का युग है । इस युग में व्यक्ति महान् नहीं, वरन् विस्तृत होना चाहता है । आज का प्राणी 'तुम त्रिकालदर्शी मुनि नाथा, विश्व बदरि जिमि तुम्हरे हाथा' की अपेक्षा एक मोटर-कार की तीव्र चाल पर अधिक विश्वास रखता है । इसी पार्थिव-सम्पन्नता की आकुल आकांक्षा के फलस्वरूप विज्ञान की गति भी तीव्र-से-तीव्रतर होती जाती है । लोग यह नहीं सोचते कि विज्ञान सदैव कला के पीछे-पीछे चलता है, यथा भावना के पीछे कार्य । कौन कह सकता है कि कवि की विहंग-माला के साथ उड़ने की कमनीय कल्पना का ही वस्तुरूप हवाई जहाज़ नहीं है ? चाहे जो हो, परन्तु इस प्रकार के पार्थिव वैभव से साहित्य का सम्बन्ध कम है । सच तो यह है कि किसी भी वैभव-सम्पन्न व्यवस्थित जाति का ही साहित्य उन्नतिशील नहीं होता, अन्यथा शक्तिहीन हिन्दू जाति में आज सूर तथा तुलसी के समान उच्चकोटि के कलाकार नहीं होते । तब फिर इस वैभव की बीहड़ता में साहित्य क्यों कैद किया जाय ? विज्ञान के अन्वेषण एक के बाद एक पुराने पड़ते जाते हैं, समय की गति के साथ उनके प्रति विस्मय का भाव कम पड़ता जाता है, किन्तु किसी साहित्य के साथ विस्मृति की ये घड़ियाँ नहीं खेल सकतीं । इसका एक कारण है कि साहित्य में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और विज्ञान में नियम की । यही कारण है कि गैलिलियो की अपेक्षा हम शेक्सपियर को आज भी अपने जीवन के अधिक समीप पाते हैं । प्रकृति के रहस्य विज्ञान से भी स्पष्ट होते हैं पर उनमें भावना का कोई आकर्षण, जीवन-ज्योति का कोई आभास नहीं रहता, किन्तु साहित्य के माध्यम से जो प्राकृतिक रहस्य स्पष्ट होते हैं वे नित-नवीन बने रहते हैं । मनुष्य का मन ऊषा के सौन्दर्य-विकास से आज भी मुग्ध होता है और होता रहेगा । उसकी प्रतिक्रिया के भावों की अभिव्यक्ति साहित्य में

सदैव से होती आई है और होती रहेगी। साहित्य का यही सम्बन्ध सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि के साथ है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्यकार विश्व की एक आकस्मिक घटना के समान होता है या उसका सम्बन्ध संसार तथा समाज की सामयिक परिस्थितियों से भी कुछ होता है? इसमें संदेह नहीं कि साहित्य किसी एक निश्चित नियम के अनुसरण का फल नहीं है, वरन् वह तो भिन्न-भिन्न साहित्यिकों की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के विचारों का सम्मिश्रण मात्र है। परन्तु साहित्य के विचार-वैचित्र्य में भी सदैव एक साम्य होता है, यथा अनेक प्रकार के विभिन्न स्थानों में ऊँचे-नीचे बहती हुई सरिता भी अपनी गति में एक साम्य रखती है, उसकी धारा तथा प्रवाह में किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता। साहित्य का स्रोत भी देश-काल की भिन्न परिस्थितियों की भिन्नता में अपने स्वरूप को बाह्य रूप में बदलता हुआ भी अपनी सनातनता से अविच्छिन्न नहीं होता। युग-युगों की इस सम्पत्ति को हम किसी प्रकार भी एक युग से नहीं बाँध सकते।

मानव-आत्मा सदैव सत्य, सुन्दर तथा शिव का उपार्जन करने के लिए आकुल रहती है। इस आकुलता का उद्देश्य केवल आनन्द-उपलब्धि है; उपयोगिता की संकीर्णता का इसमें कोई स्थान नहीं। साहित्य तो ससीम स्थूलता को पार कर असीम सूक्ष्म के उस स्थान पर पहुँचता है जहां जीवन के सारे तत्त्वों का त्याग होता है। यहीं पर साहित्य विज्ञान तथा नीति से आगे बढ़ जाता है, क्योंकि इनसे केवल भौतिक संस्कृति का निर्माण हो सकता है। दृष्ट जगत् की सतह पर जो कुछ है उसका विकास हो सकता है, किंतु भौतिक-जीवन और पशु-जीवन एक ही हैं। अस्तु, हम साहित्य में पशु-जीवन की अपेक्षा पूर्ण मानव-जीवन ही पाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि कला का हमारे भौतिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्य हमारे जीवन की भावनाओं और हमारी अनुभूतियों की सरस, सुन्दर अभिव्यंजना है, जिसका आधार यही पार्थिव-जीवन है। साहित्यकार की साधना भी तो जीवन से ही प्रारंभ होकर जीवन में ही निगूढ़ हो जाती है; किंतु मूर्त जीवन में अमूर्त जीवन को, स्थूल रूप में सूक्ष्म अरूप को सामीप्य की सम्पत्ति और सिद्धि बनाना ही साहित्य की साधना है। साहित्यकार क्षणभंगुर शरीर से आत्मा की अमरता की ओर अग्रसर होता है, प्राणों को लेकर महाप्राण पीने दौड़ता है।

यदि ऐसे साहित्य का हम इन क्षणभंगुर सामाजिक समस्याओं के समाधान में उपयोग करना चाहें तो यह कितनी निर्ममता है! प्रायः यह देखा जाता है कि सभी पार्थिव तृप्तियों के साधन प्राप्त होने पर भी मन एक अज्ञात अभाव का अनुभव-सा करने लगता है, व्यक्ति बहुत ही कष्ट में पड़ जाता है। इन घटनाओं के मूल में कौनसा रहस्य छिपा हुआ है? रोटी की सुविधा होने पर भी, राजनीति

के क्षेत्र में सर्वेसर्वा होने पर भी, व्यक्ति न जाने किस अज्ञात अभाव के स्पर्श से पीड़ित रहते हैं ? यही अभाव हमारे आध्यात्मिक जगत् का अभाव है । जीवन में हमें इस अभाव की पूर्णता की भी आवश्यकता है, अन्यथा इस अभाव को लेकर पार्थिव पूर्णता की कोई भी सुविधा जीवन को सुखी और शान्त नहीं बना सकती । यही साहित्य की सच्ची उपयोगिता है । आत्म-विस्मृति के इन अभाव क्षणों में हम साहित्य में ही शरण पा सकते हैं । साहित्य के संवेदनशील सरस स्रोत के स्थान से ही हमारी वह आन्तरिक पीड़ा शान्त हो सकती है । यही साहित्य की सफल उपयोगिता है । यों साहित्य को पार्थिव सामयिक उपयोगिता की तोल में रखना, इस युग के लिए अनुपयोगी समझकर घोड़े को डाल में घास खिलाना है । रोग के अनुसार ही औषधि का उपयोग होना चाहिए । खुजली में गंधक की अपेक्षा चन्द्रोदय-लेपन काम नहीं देगा । साहित्य की उपयोगिता साधारण मानव-जीवन के धरातल से ऊपर उठकर आधिभौतिक महामानव के जीवन का आनन्द उठाने में है, न कि दाल, तरकारी के भाव निश्चित करने में । एक मर्मज्ञ के शब्दों में साहित्य उपयोगिता के क्षण विरले होते हैं, किंतु होते हैं अमर । बुद्बुदों-सा अस्तित्व लेकर ये अपने को तथा अपने संपर्कवाले व्यक्ति को अमर बनाने के लिए उदित होते हैं । व्यस्त एवं व्यथित हृदय पर मधुकण-से गिरकर उसे मधुर बनाते हैं तथा शान्ति प्रदान करते हैं, और अचानक हम मानवता की संकीर्ण भूमि से उठकर महामानवता की असीम वसुन्धरा पर प्रस्थित हो जाते हैं। जीवन में साहित्य की उससे अधिक आकर्षक और स्थायी और कोई उपयोगिता संभव नहीं है ।

४

जीवन और साहित्य

मनुष्य में एक बड़ी कमजोरी है—वह देखता है और दृश्य-पदार्थ को हजार-गुना बढ़ाकर सोचने लगता है। जो कुछ भी वह देखता है, उसका दिमाग उसको उसी रूप में ग्रहण कर लेता है, बल्कि उससे एक सहस्र-गुना स्वरूप उसकी स्मृति पर मँडराने लगता है। यद्यपि वह जानता है कि इस प्रकार सोचने से हानि भी हो सकती है, और होती है, किंतु फिर भी वह अपने सोचने की यह अजीब आदत नहीं छोड़ता। प्रसिद्ध अँगरेजी कवि 'कीट्स' (Keats) को मनुष्य की इस प्रवृत्ति से बड़ा आश्चर्य होता है—

To Know the Change and feel it,
When there is none to heal it,
Nor numb'd sense to steal it.

हाँ, तो सोचना और आगे-पीछे की सारी बीती और आनेवाली बातों को एक साथ ही सोच लेना हमारी मानवीय आदत में मिल-सा गया है। अपने चारों ओर हम दिन-रात देखते रहते हैं; और देखा करते हैं जीवन में इतना अंधकार, इतना संघर्ष और इतनी अपूर्णता है। हम मानो इसकी कल्पना से दब-से जाते हैं, एक अज्ञात भार हमारे प्राणों को कुचलता-सा अनुभव होता है; हम आक्रांत हो जाते हैं और सहायता के लिए इधर-उधर देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हमें जो एक सहानुभूति का आश्वासन मिलता है, हमारी संतप्त आत्मा को एक सांत्वना-सी मिलती है, वह अनेक साधनों से आया करती है। साहित्य उन साधनों में से एक है। हमारे जीवन की निरानंद अशांति में साहित्य की ज्योत्सना से जो एक शांत-शीतलता मिलती है, उसे ही आनन्द का नाम दिया गया है। अतः जीवन आनन्द का भिक्षुक है। आनन्द-प्राप्ति उसका एक चरम साधन है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो तृप्ति-प्राप्ति के प्रयत्नों का संबद्ध-जाल ही जीवन है। हम स्वयं अपने कुछ नहीं—सम्बन्ध रूप से प्राणि-मात्र उस विकास के वियोजित (fractured) अंश हैं, जिसकी अनंत सत्ता, चैतन्य-शक्ति और आनन्द के अनेक

साधन हैं, और जो सब साधनों को स्वयं ही न भोगकर कुछ हमारे लिए भी नियत कर देता है। जिसको हम साहित्य कहते हैं वह और कोई अन्य वस्तु नहीं, वरन् उन प्रदत्त साधनों में से ही एक साधन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल रूप से साहित्य आनन्द की साधना है। किन्तु साहित्य की साधना के फलस्वरूप उपलब्ध आनन्द साधारण मानवीय साधना के आनन्द से भिन्न है। कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जो हमारे साधारण दैनिक क्षणों से भिन्न होते हैं; ऐसे क्षणों में हमारा जीवन साधारण मानवीय जीवन के धरातल से उठकर आधिभौतिक महामानव के साम्राज्य में उड़ने लगता है,और एक ऐसी आत्म-विस्मृति की सम्मोहन माया हमको आवृत कर लेती है कि भारी-से-भारी भौतिक अभाव, शारीरिक संताप और इस पार्थिव जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली विपत्ति भी हमें क्षण-भर के लिए तो भूल-सी जाती है—इस समय 'रोटी का राग' और 'क्रांति की आग' का कुछ स्मरण तक हमको नहीं रहता; हम एक अपनी नवीन सृष्टि बसा लेते हैं, उसमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि हमें अपना, अपने आसपास का तथा अपने भूत-भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं रह जाता। ऐसे विचित्र क्षणों का अस्तित्व ही आनद का अस्तित्व है, और ये क्षण हमारे साधारण जीवन के क्षणों से ऊँचे तथा दिव्य होते हैं; अतः इनसे प्राप्त आनन्द भी ऊँचा एवं दिव्य होता है। ऐसे क्षणों के महत्व का ज्ञान Roman Rolland के नीचे उद्धृत वाक्यों से भली-भाँति हो सकता है—

"These moments are rare but eternal. They rise like bubbles in their existence only to eternalise themselves and the person associated with them. Upon the fretted and fevered heart they drop like honey dew to sweeten and soothe, and instantly we rise from humanity to the plane of super humanity."

—The Soul Enchanted

अर्थात्, "ये क्षण विरले होते हैं, किन्तु हैं अमर। बुदबुदों-सा अस्तित्व लेकर ये अपने को तथा अपने संपर्कवाले व्यक्ति को अमर बनाने के लिए उदित होते हैं, व्यस्त एवं व्यथित हृदय पर मधु-कण से गिरकर उसे मधुर बनाते हैं तथा शांति प्रदान करते हैं; और अचानक हम मानवता की संकीर्ण भूमि से उठकर महामानवता की असीम वसुन्धरा पर प्रस्थित हो जाते हैं।"

ऐसे ही क्षण साहित्य के स्रष्टा हैं; अतः हम देखते हैं कि साहित्य का आनंद जीवन के आनंद से पावन एवं उच्चकोटि का होता है और चिर-सत्य एवं चिर-सुन्दर की आधार-भूमि पर आरूढ़ होकर मधुरता एव सरसता का दिव्य स्पर्श देने

लगता है । साहित्य की आत्मा है सत्-चित्-आनंद का अनुपम अनुभव । साहित्य मानव-भावनाओं एवं अनुभूतियों की प्रथम एवं अंतिम अभिव्यक्ति है, और मानव-भावनाएँ मानव-जीवन से ही जीवित हैं; अतः साहित्य एवं जीवन में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है—किसी भी भांति एक-दूसरे का विच्छेद नहीं हो सकता । ऊपर के वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि साहित्य जीवन के कुछ ही क्षणों की अभिव्यक्ति है, जिसका आधार हमारी रागात्मक भावनाओं के सत्यम् एवं शिवम् के स्पर्श में लक्षित है । अतः साहित्य की सृष्टि वहीं होती है जहाँ पर हमारे भाव, सुन्दरता की शरण लेकर संसार के सामने आनंदमय बनकर उपस्थित होते हैं । कहने का मूल तात्पर्य यह है कि साहित्य की सृष्टि मनोभावों में है, और मनोभावों की ऐसी स्थितियों में, जिनसे मनोभावों का उद्रेक हो । अतः सभी चीजें साहित्य नहीं हो सकतीं—जीवन की सभी और हरएक स्थिति साहित्य के अंतर्गत स्थान नहीं पा सकती; राजनीति साहित्य नहीं हो सकती, अर्थशास्त्र साहित्य नहीं हो सकता, 'रोटी' साहित्य नहीं हो सकती, नोन-तेल-लकड़ी साहित्य नहीं हो सकती; कारण, इनका मनोभावों से कोई सम्बन्ध नहीं है । दूसरे, सभी राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्र-प्रेमी या रोटी के राग अलापनेवाले नहीं होते । वास्तव में तो ऐसे महानुभावों की संख्या सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश परिमित ही होती है । अतः किसी भी क्रांतिवाद या प्रगतिवाद के संकीर्ण एवं अँधेरे कूप में साहित्य के असीम-अनन्त सागर को भरने की प्रमादयुक्त चेष्टा करना साहित्य के मर्म का अज्ञान नहीं तो और क्या है ? साहित्य किसी दल-विशेष का एकाधिकार (monopoly) नहीं; वह तो सम्पूर्ण मानव-अंतस्तल की वीणा को समान रूप से झंकृत करनेवाला वह मलय समीरण है जो एक बाग से लेकर दूसरे बाग तक तथा अपनी विभेदता में काँटे से लेकर कुसुम तक समान भाव से तथा समान-स्थिर-गंध से बहता है । ऊषा क्षितिज पर उदित होती है, केवल कमल-दलों को ही खिलाने को नहीं, केवल सुप्त विहंगों को जगाने के लिए ही नहीं, अपितु उससे समस्त संस्कृति खिल पड़ती है, समस्त जड़-चेतन जाग पड़ते हैं । साहित्य-ऊषा भी इसी प्रकार जीवन के क्षितिज पर किसी दल-विशेष को ही आनंदमय करने नहीं आती, वरन् उससे प्राणिमात्र के मन आनन्द-विभोर हो नाचने लगते हैं । मीठी चीज सबको मीठी लगती है; उसका स्वाद सभी के लिए मीठा होता है, किसी को वह कड़वी नहीं लगती । साहित्य की माधुरी प्रचलित प्रगतिवादियों को या साहित्य में क्रांति के हिमायतियों को कड़वी लगती होगी, हमको संदेह है । आये-दिन हम समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि अमेरिका के अमुक नागरिक ने, जिसके पास अपार धन-राशि थी, आत्म-हत्या कर ली ; वह अपने जीवन से ऊब गया था । अक्सर हम यह

देखते हैं कि सभी कुछ प्राप्त होने पर भी हमारा मन एक अज्ञात अभाव का अनुभव करने लगता है; हम एक अजीब परेशानी में पड़ जाते हैं। इन घटनाओं के मूल में कौनसा रहस्य है ? 'रोटी' की आवश्यकता न होने पर भी, राजनीति के क्षेत्र में 'एलेक्शन' (चुनाव) जीतकर देश के सर्वेसर्वा होने पर भी हम न-जाने कौनसे अज्ञात स्पर्श से पीड़ित क्यों हो जाते हैं ? क्यों इस 'करुणा-कलित हृदय में विकल रागिनी' बजने लगती है ? आवश्यकता से पूर्ण शान्त सरोवर में क्यों छितराई-छितराई लहरें उठने लगती हैं, और क्यों हम कभी-कभी जीवन के सुख और दुख दोनों से उकताकर, विरक्त-से होकर चुपचाप गुनगुनाने लगते हैं—

अकेली वियोग-कथा कहती मैं,
विरागमयी अनुरागवती री
जला जलने की व्यथा सहती मैं !

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य, अर्थात सच्चा साहित्य, तथाकथित प्रगतिवादी साहित्य से ऊँची चीज है—एक भौतिक है तो दूसरा आधिभौतिक और यदि एक पाशविक है तो दूसरा भौतिक; एक शरद-निशि की चांदनी है तो दूसरा बिजली की बत्तियों से छना प्रकाश; एक शान्त-शीतल है तो दूसरा ऐसा प्रकाश, जिससे केवल देखने का काम निकल जाय—वह केवल अंधकार को दूर करने के ही लिए है। और हम देखते हैं कि चाँदनी के होते हुए भी हमें भौतिक वस्तुएँ देखने के लिए या भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दीपक जलाने पड़ते हैं; किन्तु क्या कभी हमारी संवेदनशील संज्ञाओं में इन दीपों से भावनाओं की उपज होती है ? नहीं। किन्तु जैसे ही हम निरभ्र चाँदनी के शीतल अंचल में अपने अस्तित्व को आवृत कर देते हैं तो क्या किसी बीते स्वर्ण-क्षण की याद एक कसक-कंपन हमारे अंग-प्रत्यंग में नहीं भर देती, और हम आत्म-विस्मृति में आक्रांत-स्वर से नहीं रो पड़ते—

मंजरित आम्र बन छाया में
हम प्रिये मिले थे प्रथम बार।
ऊपर हरीतिमा नभ-गुंजित,
नीचे चन्द्रातप छना-स्फार !

हाँ, तो प्रगतिवादियों के सामने अब स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य क्या है; और 'आधुनिक साहित्य जीवन से दूर भाग रहा है'—कहनेवालों को भी मालूम हो गया होगा कि वे ही शायद साहित्य के असली अर्थ को समझने से दूर भाग रहे हैं। बिना जीवन के साहित्य कैसे रचा जा सकेगा ? साहित्य के बीज

जीवन की ही भूमि में उगते है, उसी में फलते-फूलते हैं, तो क्या जमीन को छोड़कर वे हवा में उगेंगे ? वास्तव में यह एक आश्चर्य की बात है !

बात यह है कि जीवन और साहित्य ईश्वर की दो सबसे बड़ी देन (blessings) हैं। इन दोनों का समवाय इतना दृढ़ एवं अवश्यंभावी है कि एक के बिना दूसरा जीवित ही नहीं रह सकता; दोनों के सहयोग से दोनों जीवित हैं, सचेत हैं, स्फूर्तिमय हैं और गतिशील हैं। एक के असहयोग (Non-cooperation) से दूसरा निर्जीव एवं निश्चेष्ट है। किन्तु स्मरण रहे कि जीवन की ठोस यथार्थता से साहित्य को भी हाँकना मानो उसका गला घोंटना है। साहित्य जीवन का शृंगार है, जीवन के असाधारण क्षणों का, सम-विषम परिस्थितियों का और चिरन्तन भावनाओं का इतिहास है। अतः उसे जीवन की क्षणिक तथा सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनाना एक अक्षम्य भूल है, एक निर्मम अत्याचार है। इस हठ से हम साधारण के लिए असाधारण को, कल्पना के लिए सत्य को और छाया के लिए वस्तु को खो बैठेंगे।

स्थूल रूप से जीवन अनेक विरोधी क्षणों का, घटनाओं का, समष्टि-रूप है। साहित्य एक दूसरी चीज है—वह है जीवन के संगतियुत नियमित क्षणों का उपार्जित कोष। जीवन में यदि मानवता की विचार-धाराओं की अविकल अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उसे सुसंस्कृत करने की क्षमता, उसे प्रांजल बनाने की शक्ति है। अतः विश्लेषणात्मक दृष्टि से दोनों एक होकर भी एक नहीं हैं, अभिन्न होकर भी भिन्न हैं, क्योंकि जीवन में साहित्य है या साहित्य में जीवन—यह अज्ञात है; दोनों साथ-साथ हैं—ज्ञात है। दोनों का सम्बन्ध सौरभ-सुमन का है, काया-छाया का है। दोनों ही सत्य हैं—जीवन ठोस सत्य है तो साहित्य सरस एवं सुन्दर सत्य; जीवन शरीर के वेगों का आधार लेकर चलता है तो साहित्य मन के वेगों का आधार लेकर—यद्यपि शरीर और मन हमारे जीवन के ही दो आवश्यक अंग हैं और दोनों के समीकरण से ही जीवन पूर्ण है। जीवन जीवन है, किन्तु जीवन के सभी पहलुओं की साहित्य में स्थापना करना अनुचित और अनावश्यक है।

५

कला की कमनीयता

सृष्टि भी सौन्दर्य-बोध का ही फल है। हमारा यह चराचर विश्व भी मानो परमपिता की कलाप्रियता का ही एक प्रमाण है। सौन्दर्य की कल्पना अनुभूति का संस्कार पाकर उस कलाकार के हाथों में सिहर उठी, और अज्ञात रूप से न जाने कब एक घरौंदा-सा बन गया। इसी को हम अनन्त काल से 'सृष्टि' नाम देते आ रहे हैं। कला के समीक्षक उसे महान् की अनुभूति का विराट् चित्र कहते हैं— विराट् इसलिए कि यह बाह्य है; उस कलाकार के स्मृति पट पर अंकित महान् चित्र का यह स्थूल संस्करण है। सूक्ष्मता तथा गहराई की परिधि में जाकर विराट् और विशाल महान हो जाता है, और महान स्थूलता तथा विज्ञान की सतह पर आकर विराट और विशाल बन जाता है।

सृष्टि-निर्माण के काल से लेकर आज तक दार्शनिकों में सृष्टि-सृजन के प्रति मतभेद रहा है; और यह मतभेद ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे स्पष्ट होने के विपरीत जटिल ही होता जाता है। दो विभिन्न मत समानता के लिए निकट आने के प्रयास में निकट न आकर और दूर-दूर ही भागते नजर आते हैं। कला के विषय में भी ठीक यही परिस्थिति दीख पड़ती है। उसके कोमल और स्वच्छन्द कलेवर को बड़ी ही निर्दयता से चारों ओर खींचा जा रहा है। प्रत्येक आलोचक और दार्शनिक इसको अपनी विचार-परिधि में, अपनी सम्मति और रुचि की कोठरी में, बाँध रखने का प्रयास कर रहा है; और जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति द्रुत और उसकी सीमा विस्तृत होती जाती है, कला की स्वतन्त्र सत्ता पर 'जेल के वारंट' भी बढ़ते जा रहे हैं। फिर भी चाहे जो कुछ हो, सौ-सौ वादविवादों के साथ साथ हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि हम सत्य उसको नहीं कह सकते जो एक काल, एक देश या एक परिस्थिति में अपना अस्तित्व बनाये रखे, वरन् हम सत्य उसीको कहेंगे, जो देश और काल की संकुचित सीमा एवं पात्र की एकात्म परिधि से परे रहकर भी अपने में पूर्ण रहता हो। कला का सत्य अनुभूति का सत्य है, भावना की चिरन्तनता का सत्य है, कल्पना की उत्पत्ति का सत्य है। अतः उसका सत्य-स्वरूप अनुभूति के प्रकाश में ही प्रकट होता है, भावना के पट पर ही

अंकित होता है, कल्पना की उत्पत्ति पर ही उसका उदय होता है। उसके असली व्यक्तित्व को पहचानने की और उसकी आन्तरिक ज्योति का अनुभव करने की सच्ची कसौटी मानव-हृदय के सिवा और कोई नहीं। तर्कशास्त्र के बौद्धिक कौशल अथवा विज्ञान का अन्वेषण और प्रयोग, या मनःशास्त्र का विश्लेषण सत्य की सीमा तक नहीं पहुँच सकते; उसकी परिधि रेखा तक भी नहीं जा सकते, केन्द्र बिन्दु की तो बात ही दूसरी है। कारण यह कि जहाँ विज्ञान, तर्क और मनःशास्त्र अपनी चरम सीमा तक पहुंचते हैं, अपनी अन्तिम साधना अवस्था पूर्ण कर लेते हैं, वहां से कला की सीमा-रेखा प्रारम्भ होती है। अपनी पूर्णता पर विज्ञान और तर्क स्वयं ही काल का स्वरूप धारण कर लेते हैं, मानो वे अपने पार्थिव स्थूल शरीर को छोड़कर कला के सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप में परिणत हो गए हों। मनुष्य जो कुछ देखता है, सुनता है, पढ़ता है, उसे अपने हृदय के साथ जब एकान्त कर ले, मिला ले, उसका अनुभव कर ले, तभी वह सत्य बन जाता है—यही अनुभव कला का सत्य है। संसार की अन्य सभी वस्तुओं का निर्णय तथा निरूपण हम बुद्धि के द्वारा कर सकते हैं, किंतु अनुभूति के सत्य से अनुप्राणित कला तो अनुभूति-जनित शाश्वत सोपान पार करने पर ही प्राप्त होती है।

आज का युग विज्ञान की स्थूलता और पदार्थ की सघनता का युग है। इस अनन्त कोलाहल के विस्तार में मानव का व्यक्तित्व इतना व्यस्त एवं व्यथित हो गया है कि कला के सूक्ष्म सत्य के प्रति न तो उसके पास विश्वास ही है, न उसकी खोज के प्रति समय ही। कला तो मुक्त आत्मा की अमर अनुभूति है। विपन्न और सन्तप्त मनुष्य को कहाँ इतना अवकाश कि वह संसार की सारी बातों को देख-कर अपनी आत्मानुभूति की रसात्मकता से कला का अनुभव एवं आविर्भाव करे। कला का प्रकाश और विकास तभी होता है, जब हमारी अन्तरात्मा अपनी चेतना में सजग हो, हमारे प्राण अपनी कल्पना में मुक्त हों और हमारी भावना अपनी अनुभूति की अवतारणा में स्वच्छन्द हो। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि कला का जन्म हमारी पार्थिव आवश्यकताओं, सीमाओं तथा बन्धनों के बीच नहीं हो सकता। आवश्यकता है कि कला के सृजन में हमें ऐसी परिस्थिति, ऐसी अवस्था कम-से-कम मिले, जिसमें उसके सत्य की अनुभूति को हम कोई स्वरूप दे सकें; जीवन की जटिलता से हमें इतना अवकाश मिले कि उस सत्य के प्रकाश का विकास हो सके।

कला का मूल स्रोत सौन्दर्य-बोध है। परन्तु सुन्दर क्या है, यह भी एक रहस्य है। इस सम्बन्ध में आस्कर वाइल्ड का कहना है कि जिस वस्तु के साथ हमारा कोई प्रयोजनगत सम्बन्ध नहीं है, वही सुन्दर है।

वैयक्तिक सौन्दर्य का आश्रय लेकर सम्पूर्ण मानवीय सौन्दर्य से भी परे उस परम सौन्दर्य की ओर अग्रसर होना चाहिए, जहाँ से संसृति के पट पर बिखरा सम्पूर्ण सौन्दर्य जन्म एवं विकास पाता है। वहीं दिव्य एव चिरन्तन सौन्दर्य की प्रकाश-रेखा उद्भूत होगी और कला की शाश्वत ज्योति के दर्शन होंगे। सौन्दर्य की यही प्रकाश-रेखा सम्पूर्ण कला की जननी है। यहाँ कलाकार की अनुभूति सजग हो उठती है, और उसके द्वारा ऐसी ऐसी बातों की सृष्टि होती है, जो साधारण मानव समाज की दृष्टि में अतिशयोक्ति के समान लगती हैं—यद्यपि वे हैं परम सत्य। अमर कवि विद्यापति की प्रेयसी की यह इच्छा किसे अतिशयोक्ति नहीं प्रतीत होती—

जनम अवधि हम रूप निहारलुँ
नयन न तिरपित भेल,
लाख-लाख जुग हिए हिए रख लूँ
तबहूँ जुड़न न गेल !

श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा है—

कौन आया था न जाने,
स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन उँगलियों के,
हैं मुझे अब युग बिताने।

इन भावनाओं को केवल कल्पना की उन्मत्त उड़ान कहकर बहुत-से छोड़ देंगे।

फिर भी यह भावना हृदय का परम सत्य है। जीवन के सत्य और कला के महत्व की गंगोत्री जीवन के इसी प्रवाह में सन्निहित है। हाँ, यदि कोई व्यक्ति हमें बुद्धि की तर्कना या विज्ञान की विडम्बना से देखना चाहे, तो उसे इससे कुछ नहीं मिलेगा, क्योंकि सभी वस्तुओं के बाहरी एवं भीतरी दो स्वरूप होते हैं। किसी भी मनुष्य का केवल बाहरी रूप ही चर्म-चक्षुओं से देखा जा सकता है, उसका आन्तरिक रूप अन्तर-चक्षुओं से ही देखा जा सकता है। हमारा बाहरी रूप एवं प्रकाश सदैव हमारे भीतरी रूप और प्रकाश के अनुरूप हो यह आवश्यक नहीं, और आवश्यक चाहे माना भी जाय, तो यह सम्भव एव सत्य नहीं। इसीलिए कलाकार वस्तुओं के अन्तस्तल में प्रवेश करता है और अनन्त प्रकाश की पूंजीभूत रेखाओं में से एक रेखा अपने लिए भी पकड़ लाता है। वह रेखा कलाकार की अनुभूति से अनुप्राणित एवं उसकी भावना से एकाकार होकर कला की सूक्ष्म प्रतिमा बन जाती है। इस प्रतिमा की साकार अवतारणा ही कला की सृष्टि है।

यों तो प्रकृति में भी कला के बहुत से उपयोगी उपादान मिलते हैं, किन्तु उनका स्थान एवं स्वभाव तब तक स्थूलता एवं अपूर्णता की अवस्था ही में रहता है, जब तक कि वे कलाकार के अन्तस्थ सत्य के आधार से अपनी पूर्णता नहीं पाते, कला के प्राणों में स्पन्दित होकर अपनी चिरन्तनता की घोषणा नहीं करते—देखने और देखकर भूलने के सिवा उनका जीवन में और कोई मूल्य नहीं रहता। कला की पूर्णता बाहर नहीं, भीतर ही रहती है। प्रकृति के भीतर जो सौन्दर्य है, वह भी हमारे भीतर के ही सौन्दर्य से अधिकांशतः आरोपित है। कलाकार फूल के बाह्य रूप से उतना प्रभावित नहीं होता, जितना उसके आन्तरिक सौन्दर्य की चरितार्थता से। यदि किसी वस्तु की बाह्य रूप-रेखा ही उसके सौन्दर्य का निरूपण करती होती, तो एक ही वस्तु सभी को सुन्दर लगती, एक-सी लगती; मगर ऐसा होता नहीं। अतः किसी भी वस्तु में सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिए हमें अपनी आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति का ही माप-दंड चाहिए; यही कलाकार की अपनी चीज होती है। इसलिए हम देखते हैं कि कलाकार अपनी हार्दिक पूर्णता से संसार की तथा प्रकृति की सभी वस्तुओं की अपूर्णता को पूर्ण कर देना चाहता है। अपनी इसी मौलिकता एवं स्वच्छन्दता के बल से कला पर अनुकरण की संज्ञा नहीं लादी जा सकती—उसे हम प्रकृति की प्रतिमूर्ति नहीं कह सकते। हम जीवन में अनेक बार ऐसा देखते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष के वस्तु-चित्र से हमें उतना सन्तोष नहीं होता, जितना उसके कला-चित्र से। किसी वस्तु के बाहरी और नग्न स्थूल रूप को ज्यों-का-त्यों सामने रख देना कला नहीं है—उसे हम फोटोग्राफ की संज्ञा दे सकते हैं, किंतु भावनातन्मय कलाकार की तूलिका का सजीव चित्र उसे नहीं कह सकते। वह अपनी स्थूल जड़ता में निर्जीव पदार्थ है, उनमें कला के सत्य का प्राण-प्रवाह नहीं; वह जड़ है, सचेतन नहीं।

कल्पना कला की सजीव सत्ता है। बिना कल्पना की अवतारणा के कला के सत्य का अनुरंजन नहीं हो सकता; किन्तु कला की कृति में कल्पना का समावेश एक विशेष ढंग से और एक विशेष अंश में होना चाहिए। मानव-स्वभाव एक परम रहस्यमय एवं निरन्तर परिवर्तनशील समस्या है। उसकी कुछ अपनी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जिन पर कभी-कभी हमारा संयम या नियन्त्रण रह ही नहीं सकता। अक्सर उसे अपने निकट की बड़ी वस्तुएँ भी छोटी दिखाई पड़ती हैं, और ऐसा लगता है कि जो दूर है वह अत्यन्त प्रिय है। यही कारण है कि अतीत की कितनी ही छोटी-छोटी बातें हमको कल्पना के रंग में वर्तमान की बड़ी बातों से भी अधिक प्रिय तथा रुचिकर मालूम होती हैं। कीट्स ने ठीक ही कहा है—"सुनी हुई स्वर-लहरी मधुर है, किन्तु जो नहीं सुनी वे और भी मधुर हैं।" अतः कल्पना

का समावेश कला के सृजन में उसी हद तक होना चाहिए, जहाँ तक वह उसको प्रांजल एवं भास्कर बना दे, उससे आगे उसका किंचिन्मात्र अंश भी कला पर भार-स्वरूप होने लगता है, और उसके सुसंस्कृत सौन्दर्य को अतिरंजित रूप देने लगता है।

कल्पना का कला से कहाँ तक सम्बन्ध है और कला के प्रति उसका कितना उत्तरदायित्व है, इस पर प्रकाश डालते हुए अनातोले फ्रांस ने लिखा है—"जब तक कल्पना कला के नियंत्रण में एवं उसके अधीन रहती है, तब तक वह स्वयं कला है; किन्तु जहाँ वह निरंकुशता से कला पर शासन करने लगती है, वहाँ वह आततायी शासक से किसी प्रकार कम नहीं।"

कला में कलाकार का व्यक्तित्व भी आवश्यक है। शेली और वर्ड्सवर्थ के 'स्काइलार्क' एक ही पदार्थ नहीं। प्रत्येक ने अपनी-अपनी कल्पना और अनुभूति के आधार पर उसकी अभिव्यक्ति की है—इसी से वे दोनों सत्य हैं। कलाकारों की अभिव्यक्तियाँ विभिन्न और व्यक्तिगत होने पर भी एक ऐसी एकता से बँधी रहती हैं कि एक की रचना दूसरे को प्रिय हो पाती है। यही कला की पराकाष्ठा और सत्य की चिरन्तनता है, वैषम्य के भीतर साम्य-स्थापना की सीढ़ी पर चढ़कर कला अनन्त सत्य की सीमा पर पहुँच जाती है। इसीसे कहा गया है कि जीवलोक का मनुष्य सान्त है, कला-लोक का अनन्त। तभी तो अनन्त सौन्दर्य की व्यक्तिगत अनुभूति कला की संज्ञा पा जाती है। इसी साम्य-भूमि पर पहुँचकर भावना का कलाकार शेली अपनी तन्मयता में मुखरित हो उठा था—

"यहां सब 'अन्य' अन्तर्हित हो जाते हैं, केवल 'एक' रह जाता है।"

जो सौन्दर्य संसार की प्रत्येक वस्तु में अंतर्लीन है, सूक्ष्म रूप से व्याप्त है, उसका प्रकाशन अपनी व्यक्तिगत रसानुभूति से करना तथा ससीम के भीतर से उस महान् असीम की ओर अग्रसर होने का आत्मिक सत्य खोजना ही कला है, और कलाकार की साधना की यह गति ही उसका अपना व्यक्तित्व है, जो अमर कला के स्पर्श से अमर है, चिरन्तन है। आत्मानुभूति द्वारा विश्व की रसात्मक अभिव्यक्ति ही कला का सर्जन है। जीवन के सत्य को छूकर तथा उसमें अपनी कल्पना एवं भावना की स्थापना करके कलाकार किसी स्थूलता को, जीवन की किसी विशेष जड़ता को, सूक्ष्म एवं सप्राण बना देता है; जीवन के किसी क्षण को अमर कर देता है और साधना कि इस अमरता में स्वयं भी अमरों के लोक का स्वामी हो जाता है,। शायद इसी कारण महादेवी जी ने पूछा है—

क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार ?

६

कवि की रूपरेखा

कवि विश्व का प्रतिनिधि है। इस अधूरी और अपूर्ण मानवता के मध्य में खड़ा होकर वह एक पूर्ण मानव का आदर्श प्रस्तुत करता है। अपनी इस गण्य-मान सत्ता में वह अपने वैभव को व्यक्त नहीं करता, वरन् संसार के सम्मुख प्रदर्शित कर देता है कि सर्वात्मा वैभव क्या वस्तु है? अपने जीवन-व्यापन से, अपनी विचित्र-सी क्रिया-प्रतिक्रियाओं से कवि हमको अपने काल से, अपने सम-कालीन जन-समाज से, अलग-सा, कुछ विशृंखल-सा लगता है। उसकी अनोखी विचार-धाराओं और मनोवृत्तियों से इस अन्तर की दूरी बढ़ती ही प्रतीत होती है; किन्तु फिर भी कवि अपनी गति में दो मिनट रुककर सोचने नहीं लग जाता, वरन् वह बहते जल-स्रोत की भाँति बहता ही चला जाता है। कारण यह है कि उसको जीवन के सत्य में और हृदय की सर्वात्मा शृंखला में विश्वास रहता है। वह सबसे पहले और सबसे अधिक दृढ़ता के साथ जानता है कि सत्य और कला की विजय अवश्यम्भावी है। क्योंकि मानवता सत्य के बल पर जीवित है, उसका अस्तित्व सत्य की ही सत्ता पर आरूढ़ है; और प्राणी अभिव्यक्ति की आवश्यकता से अनुप्राणित है, अर्थात् यह कहा जाय कि जीवन की चेतनता अभिव्यक्ति है। प्राणि-विज्ञान की दृष्टि से जीवन के दो भाग हो सकते हैं—पहला भाग है माँस-मज्जा-युक्त मनुष्य का शरीर और दूसरा भाग है उसकी अभिव्यंजना। अतः अपने में मनुष्य अधूरा ही है; उसका पूर्णार्द्ध भाग है अभिव्यक्ति।

हम दिन-रात अपने स्वयं से और बाह्य प्रकृति से विचार-विनिमय किया करते हैं। इस विचार-विनिमय के प्रधान माध्यम हैं भाव, संज्ञा और कल्पना। नित्य-प्रति हमारे दृष्टि-विन्यास में चलते-फिरते स्त्री पुरुष, हमारी संज्ञा से आबद्ध जड़-चेतन, हमारी कल्पना की वाटिका में भ्रमण करने वाले सचेतन और अचेतन प्रति पल हमसे कुछ-न-कुछ बतलाया ही करते हैं—हम उनसे कुछ लेते हैं, और वे हमसे कुछ। यह आदान-प्रदान की क्रिया चलती ही रहती है। किन्तु हम देखते हैं कि इस विनिमय को शब्दों के द्वारा सभी नहीं प्रकट कर सकते, क्योंकि यह मूक

विनिमय हमारे ज्ञान-तंतुओं को छूता जरूर है, किन्तु किसी को कम और किसी को ज्यादा। कवि के ज्ञान-तंतुओं को यह इतनी तीव्रता से स्पर्श करता है कि वे उस विनिमय को शब्दों में प्रकट करने के लिए विवश हो जाते हैं। इसीलिए कवि मानवता का प्रतिनिधि है, क्योंकि उसमें अपने से और प्रकृति से जितनी अधिक लेने की शक्ति है उतनी देने की भी। संसार के तमाम प्राणियों को मूलत: तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग मनुष्य के क्रियात्मक जीवन को दृष्टि में रखकर किये गए हैं। मोटे रूप में ये तीन भाग हैं--(१) जाननेवाले मनुष्य (२) करनेवाले मनुष्य (३) कहनेवाले मनुष्य। जाननेवालों की श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जिनके सम्पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक एवं भावना-सम्बन्धी प्रयास ज्ञान की ही खोज में अपना लक्ष्य रखते हों। 'सत्य' की साधना उनका जीवनोद्देश्य होता है। 'करनेवालों' की श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जिनके तमाम प्रयत्न कार्य की ही भावना से ओत-प्रोत हों। गीता में ऐसे ही मनुष्यों को निष्काम कर्मयोगी कहा गया है। 'शिवं' इस विभाग के मनुष्यों का चरम साध्य होता है। तीसरे प्रकार के, अर्थात् 'कहनेवालों' की श्रेणी में उन मनुष्यों को रख सकते हैं जो अपनी व्यंजना को ही अपने अस्तित्व का परम विकास मानते हैं। 'सुन्दरम्' इनका मूल उद्देश्य है। इन तीनों प्रकार के मनुष्यों का ध्येय रहता तो साधना ही है, किन्तु विशेष प्रकार की। भगवद्गीता में तीन प्रकार के साधकों का वर्णन है—ज्ञानी, निष्काम कर्मयोगी और भक्त।

'कवि' कहनेवालों की श्रेणी में आता है। वह 'सुन्दरम्' का प्रतिनिधित्व करता है, और चूँकि सौन्दर्य का निर्माणकर्ता कोई नहीं है, वरन् सौन्दर्य से ही सृष्टि-रचना हुई है, सौन्दर्य ही विश्व-स्रष्टा है; इसलिए कवि सम्पूर्ण मानवता का केन्द्र बिंदु है, मानवता की समस्त स्रजन-शक्ति उसमें केन्द्रीभूत है।

जिस क्षण में सर्वप्रथम संसार में कवि का जन्म हुआ होगा वास्तव में वह क्षण कितना महान् होगा और मानवता का मुख किस उल्लास से ज्योतित हो उठा होगा, क्योंकि विश्व के धरातल पर कवि के आगमन में सभी का कुछ-कुछ स्वार्थ है, चाहे उसको वे जानते न हों। हम जानते हैं कि सृष्टि का रहस्य गूढ़ है, और साथ ही उसका ज्ञान हमारे लिए अनिवार्य भी; किन्तु हम नहीं जानते हैं कि क्या उस रहस्य का उद्घाटन हो सकता है और कौन उसको प्रकट करने की क्षमता रखता है। इस रहस्य-कुंजी को हमारे विस्मय-शिथिल हाथों में देने वाला कवि ही है। मानवता अपने विषय में अपनी चिरसगिनी प्रकृति के विषय में जितना भी आज तक जान पाई है वह कवि की दिव्य वाणी के ही द्वारा। कवि मानवता के आगे-आगे पथ-प्रदर्शन करता हुआ चलता है। जीवन के सर्वोच्च शिखर

पर बैठकर वह जीवन की प्रगति को देखता है और एक चतुर सेनानायक की भांति समय के सागर में मानवता के जहाज को चलाता हुआ 'सुन्दरम्' की साधना पूर्ण करता रहता है। सच्चा कवि जीवन की विभूतियों का सृजन करता है। उसके काव्य के शब्दों की शिराओं में सौंदर्य के अमर प्राण रहते हैं जो मनुष्यमात्र की भावनाओं को क्षण-भर की आत्मविस्मृति में कोमल और प्रांजल कर देते हैं। कविता की कुछ पंक्तियों को पढ़ने के उपरान्त तत्वज्ञ एमर्सन भावोन्माद में आभोर हो गया—

"और अब मेरे बंधन टूटने को हैं, मैं इस मेघमय और अपारदर्शी वातावरण से जिसमें मैं रहता हूँ, ऊपर उठ जाऊँगा—यद्यपि यह वातावरण अल्पपारदर्शी प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह अपारदर्शी है—और सत्य के स्वर्ग में अपने बन्धुओं को देखूँगा, उन्हें पहचानूँगा।...यह दिवस मेरे जन्म-दिवस से अधिक प्रांजल होगा; तब मैं एक पशु था अब मैं यथार्थ के विज्ञान का स्पर्श करने के लिए आमन्त्रित हुआ हूँ।"

कविता की कुछ प्रारम्भिक पंक्तियों को पढ़कर एमर्सन के हृदय में इन भावों का उदय हुआ था। प्रकृति का कवि के ऊपर अखंड दुलार है, अतः इस विज्ञान और गद्य के युग में ज्ञानवादी काव्य के विषय में लोग चाहे कितना ही घृणामय प्रचार-कार्य करें, कितने ही विध्वंसात्मक प्रयत्न करें, किन्तु उसका प्रभाव, उसका वैभव, किसी भी प्रकार न्यून नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि के अस्तित्व को, उसकी आवश्यकता को, प्रकृति ने एक प्रकार से 'इन्श्योर' कर दिया है। हम देखते हैं प्रकृति में अनेक सुन्दर वस्तुएँ हैं, किन्तु उनकी सुन्दरता में जीवन उसी समय आता है जब कि कवि ने उसको अभिव्यंजित किया हो। अतः प्रकृति का सौंदर्य अपनी सचेतना के लिए, अपनी सार्थकता और सफलता के लिए, कवि की अभिव्यंजना का भिखारी है। अभिप्राय यह है कि कवि के अस्तित्व के बिना, अथवा यों कहें कि कवि की कृपा-दृष्टि के बिना, प्रकृति का सौंदर्य निर्जीव है, मूक है। प्रकृति में जो भी कुछ दृष्टिगत होता है सब अपनी-अपनी सत्ता में अपना-अपना अस्तित्व रखता है; संसृति के धरातल पर कोई भी वस्तु अभिप्राय-विहीन नहीं है; प्रत्येक की अपनी विशेष-विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं। सम्पूर्ण प्रकृति के उपादान हर समय इंगित की भाषा में कुछ-न कुछ कहा करते हैं। सारी प्रकृति एक विशाल रूपक है और इस विशाल रूपक के अन्दर अनगिनत अन्य रूपक भी समाये हुए हैं। कवि इस इंगित की भाषा का ध्वनिमय भाषा में अनुवाद करता है, रूपकों की मूक व्यंजना को सवाक चित्रोपमता प्रदान करता है। अतः

जिस प्रकार प्रकृति का यह रहस्य अमर है उसी प्रकार कवि का अस्तित्व भी अमर है, उसकी अभिव्यंजना भी अमर है।

कवि भावना और भाषा का पुरोहित है। ऊपर कहा जा चुका है कि कवि प्रकृति के संकेतों का ध्वनिमय अनुवादक है। अनुवादक की इस हैसियत से कवि परोक्ष रूप से भाषा का स्रष्टा है। संसार के शब्दकोष में अब तक जितने शब्द हैं उन सबका जन्म कवि-वाणी के द्वारा हुआ है—इस सत्य को इसके सम्पूर्ण अभिप्राय में देखने से कवि की महत्ता कितनी बढ़ जाती है! हमारे भीतर के संसार की और द्रष्टात्मक बाह्य संसार की जितनी भी वस्तुएँ इस पृथ्वी पर आईं, सबका कवि ने नामकरण किया, उसने हमारी भावनाओं का स्वरूप तथा उनका मूल्य निश्चित किया, हमारी सत्ता को गतिशील बनाया। कवि वस्तुओं का एवं भावनाओं का नामकरण करता है, क्योंकि वह उनके भीतर और बाहर देखने की क्षमता रखता है, वह दूसरों की अपेक्षा उनके अधिक निकट पहुँच सकता है। यह व्यंजना या नामकरण संस्कार कला नहीं है, क्योंकि कला कहने से तो इसका महत्व वास्तव में बढ़ता नहीं है, वरन् घटता ही है। कवि की इस प्रकाशन प्रवृत्ति को हम दूसरी प्रकृति कह सकते हैं—उसकी सृष्टि को दूसरी सृष्टि कह सकते हैं, जो कि स्रष्टा की सृष्टि से ही उद्भूत एक अंश है, जैसे कि वृक्ष से उद्भूत उसकी शाखा। निर्जीव ठूठ के शाखा नहीं होती—शाखामय वृक्ष ही सजीव है। अतः कवि और प्रकृति का आत्मीय एवं पुत्र तथा जननी का सम्बन्ध है। दूसरी बात इससे यह सिद्ध होती है कि कवि सृष्टि को जानने वाला या सौंदर्य का इतिहासकार नहीं है, वरन् वह अपने स्वतन्त्र रूप में उसका स्रष्टा है। सृष्टि के स्रष्टा की भांति कवि भी अपने सृजन की सत्ता में स्वतन्त्र है, एक सत्तात्मक है।

कवि की साधना सूक्ष्म दृष्टि के राजमार्ग पर प्रगतिशील रहती है। 'जहाँ न पहुंचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि' वाली कहावत में कवि की सफलता का तत्त्व छिपा हुआ है। वह प्रत्येक वस्तु के आर-पार देखने की अद्भुत क्षमता से परिपूर्ण होता है। इस क्षमता को दूसरे शब्दों में कल्पना-शक्ति की संज्ञा दे सकते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से कल्पना अन्तर्दृष्टि का ही एक स्वरूप है। कल्पना-शक्ति, जैसा कि प्रायः समझा जाता है, कोरी शेखचिल्ली की बेसिर-पैर वाली अनर्गल उड़ान नहीं है, न नशे में उन्मत्त मनुष्य की ऊलजलूल बकवाद, वरन् अपने वास्तविक अर्थ में कल्पना-शक्ति बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है। कल्पना-शक्ति प्रयत्न द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती; इसका साधन है प्रतिभा का समुचित संचालन। प्रतिभा कहाँ देखती है और क्या देखती है, दृष्ट पदार्थों के स्वरूपों के बीच से वह कहाँ जाती है—इसी मनन पर काव्योचित कल्पना का तत्त्व निर्भर है। कवि कल्पना के पंखों पर चढ़कर सम्पूर्ण

विश्व के कण-कण के अन्तराल में प्रवेश करता है, और उनके अस्तित्व का, उनकी प्राण-साधना का रहस्य क्या है, इसे जनता के हृदयों पर बड़ी मधुरता से चित्रित कर देता है। कवि के इस चित्रांकन में कोई आरोप नहीं होता, कोई मार डालने की चेष्टा नहीं होती, वरन् वह बहुत ही अपना निजी बनकर, आत्मीयता की लकीरों से प्रकृति का रहस्य मानव-समाज के हृदय पर अंकित करता है। अभिव्यक्ति का न होना सबसे घनीभूत अन्धेरा है। अपने आस-पास की वस्तुओं के रागात्मक सस्पर्शन को भी अगर हम प्रकट नहीं कर सकते तो इससे बढ़कर हमारा और दुर्भाग्य हो ही क्या सकता है। बिना अभिव्यक्ति के मानवता का जीवन बन्दी के समान है।

कवि हमारी भावना को अभिव्यक्त करने वाला सबसे बड़ा और अकेला साधन है। उसकी वाणी के स्पर्श-मात्र से ही हमको ऐसा अनुभव होने लगता है मानो हम किसी कैदखाने की अँधेरी गुफा से बाहर निकलकर मुक्त वायु में आ गए हों। इस प्रकार स्पष्ट रूप से कवि हमारी बौद्धिक और भावनात्मक आजादी का अग्रदूत है। भावना और चेतना के जगत् में हमारी स्थिति बड़ी करुण है। जल के सोते के किनारे पर बैठे हुए भी हम प्यास से मर रहे हैं; जीवन और सत्य के जलाशयों की तरंगें हमारे पैरों को छूती हुई निकल जाती हैं, पर हम फिर भी प्यास से पीड़ित हैं। यदि हम उस तक हाथ बढ़ावें भी और चाहे कितना ही क्यों न झुकें, वह कभी हमारे समीप नहीं आता; और जितना समीप पहुँचने की चेष्टा हम करते हैं उतना ही उसका फासला बढ़ता जाता है। यही हमारी अवस्था है अपने भाव-जगत् में। हम कहना चाहते हैं, पर जो कहना चाहते हैं कह नहीं सकते; और जब हमारी भावनाओं को अपनी वाणी में भरकर कवि का कंठ मुखरित हो उठता है तो हम सहसा पुकार उठते हैं—"हाँ, यही तो हम कहना चाहते हैं।" हरेक विचार, हरेक भावना भी एक प्रकार के बन्दी-गृह हैं जैसे कि स्वर्ग बन्दी-गृह होता है। कुछ वर्ष स्वर्ग की चहार-दिवारी के अन्दर रहकर भी हम ऊब जायँगे और चाहेंगे कि किसी-न-किसी तरह इस कारागार से मुक्ति मिले। यही अवस्था विचार तथा भावना के सम्बन्ध में है। एक ही विचार पर केन्द्रित मानवता का सन्तोष अस्थायी ही होगा, एक ही भावना के कटघरे में बन्द आत्मा बाहर निकलने के लिए जरूर विद्रोह कर उठेगी, क्योंकि आत्मा चिर-मुक्त है। कवि की व्यंजनाशक्ति इस कारागार को तोड़कर हमें मुक्त करती है; वह हमारे सामने दूसरे विचारों की, दूसरे भावों की, सृष्टि करती है; और हम अपने एक भाव से, एक विचार से दूसरे में पर्यटन करते रहते हैं। इसीलिए कवि-सृष्टि हमें इस दृष्ट सृष्टि से अधिक प्रिय, अधिक मनोहारिणी लगती है। विशेष महत्व की बात तो यह है कि स्रष्टा की सृष्टि में

रहते हुए भी हम कवि की सृष्टि की कामना करते हैं, और उसकी प्राप्ति पर उसमें ही आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। कवि मानवता को भावना तथा विचार के स्वच्छन्द वातावरण में कल्पना की सृजन-शक्ति के ही द्वारा लाता है; अतः स्पष्ट हो जाता है कि कवि की कल्पना और अनर्गल कल्पना में कितना बड़ा अन्तर है। कवि की कल्पना मानवता की मुक्ति का देवदूत है; उसी के रथ पर बैठकर कवि सत्य के साध्य-क्षेत्र में प्रवेश कर पाता है। कवि-कल्पना का लक्षण है निरन्तर प्रवाहित होते रहना, जल की लहरों की भाँति सदा चलते रहना; किन्तु शीत ऋतु में बर्फ की तरह जमना उसकी प्रवृत्ति नहीं है। कवि कल्पना के पुष्पयान पर उड़ता है, पर विविध रंगों पर या रूपरेखाओं पर ठहर नहीं जाता, वरन् उनकी भाषा को ध्वान्यात्मक रूपकों में व्यक्त करता हुआ चला जाता है। वस्तुओं के अर्थों की खोज करता हुआ वह उन्हीं के द्वारा अपने विचार व्यक्त करता हुआ उड़ता रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि के इस विशाल विन्यास में कवि का कितना व्यापक एवं प्रगूढ़ महत्व है। किन्तु हमको इसके साथ-साथ यह भी जान लेना चाहिए कि कवि का किसी राष्ट्र के धरातल पर अवतीर्ण होना भी उस राष्ट्र की चरम तपस्या का फल है। आदि-काल से अभी तक संसार के इतिहास में कुछ इने-गिने ही कवि हुए हैं। पूर्ण तत्त्व तथा शब्द की सच्ची अर्थात्मा के दृष्टिकोण से देखा जाय तो इन बीस सदियों के लम्बे-चौड़े विस्तार में गिनती के बीस कवि भी नहीं हुए। सच्चा कवि किसी शताब्दी विशेष का गौरव-मुकुट है, किसी देश विशेष की सभ्यता की श्रेष्ठता का प्रतीक है, और वसुन्धरा के सौभाग्य का सिंदूर है।

७

कहानी कला की कहानी

कला के किसी भी स्वरूप में दो तत्त्वों का प्राधान्य रहता है—चित्रों का एक समूह और उन्हें अनुप्राणित करने वाला भावों का स्पष्ट स्पन्दन। ये दो तत्त्व बाह्य रूप से भिन्न होकर भी वास्तव में एक हैं, क्योंकि परिणाम रूप में हमारे भाव अभिव्यक्ति के चित्र बन जाते हैं, और इस प्रकार उनको एक नया स्वरूप मिल जाता है। भावों की यही चित्रोपमता कला है; इसीलिए कला को एक विशेष विकल्पना तथा अनुभूति की भी संज्ञा दी जाती है। वास्तव में कला न भाव है न चित्र है, वरन् वह है दोनों का समुचित सम्मिश्रण। अपने इस रूप में कला उन भावों की, तथा उन चित्रों की जिससे वह निर्मित है, आधार अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि वह अपने विशुद्ध निर्माण के पश्चात् अपनी यथार्थता तथा अयथार्थता विषयक प्रसंगों की प्रचेतना से ऊपर उठकर उनकी संकुचित सीमा को पार कर जाती है, समस्त ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक विधानों से विमुक्त हो जाती है और इस प्रकार अपनी स्वच्छन्द सत्ता में जीवन का स्पन्दन घोषित कर उठती है। कला की यही चरम सिद्धि है। कला की मूल साधना आनन्द प्राप्ति है, किन्तु उसमें भावात्मक करुण मनोरंजकता भी रहती है। कला का क्षेत्र जीवन है, अस्तु कला में जीवन के किसी भी अंश की सत्ता का स्वरूप समाहित हो सकता है, किन्तु उसमें कलाकार के व्यक्तित्व का आभास अवश्य रहना चाहिए। व्यक्तित्व एक निर्णय के बाद निर्धारित होता है और आत्म-व्यापकता उसकी सबसे बड़ी विकलता है। यही आत्म-व्यापकता की इच्छा कला की कमनीय कान्ति है, क्योंकि कोई भी कलात्मक अभिव्यक्ति यदि पाठकों, दर्शकों तथा मर्मज्ञों के हृदय में अपना घर न बना सकी, अपना कुछ सन्देश उन्हें न दे सकी तो वह एक आकुल अरण्य-रोदन की भांति ही व्यर्थ है। कला की सार्थकता एक हृदय से दूसरे हृदय के विचार विनिमय में हैं। वह प्रत्येक दर्शक या पाठक के लिए अपनी सृष्टि का परिचय है और इस परिचय से वह शेष सृष्टि को कलाकार से एकाकार कर देती है। आदि काल से लेकर आज

तक एक दूसरे के विचार तथा भाव इसी प्रकार परिचित होते आये हैं। कहानी कला इसका एक निर्विवाद विश्वजनीन साधन है। कला के किसी दूसरे स्वरूप का स्थान इतना निश्चित, इतना मनोरंजक तथा इतना व्यापक नहीं है। कहानी की कहानी आदि काल से ही प्रारम्भ होती है और इसका अन्त भी अपने परिवर्तनों तथा परिवर्धनों को पार करता हुआ मानवता के ही साथ होगा।

हमारे यहां पुराणों तथा उपपुराणों में कहानियों की भरमार है। उपनिषदों में भी कहानियों की कमी नहीं है। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य में वृहत्कथा मंजरी, कथा सरित्सागर, दशकुमार चरित्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थ विश्व-विख्यात हैं। बौद्धधर्म की आधार-माध्यम पाली भाषा में जातक कथा-संग्रह बहुत ही सुन्दर है। इसमें भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों के चरित्र सुन्दर तथा सरस कथानक रूप में दिये गए हैं। इन कहानियों में दर्शन का बड़ा सरस-स्वरूप मिलता है। इसके बाद ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म की उत्तरोत्तर उन्नति रोकने की अभिलाषा से कुछ प्रभावात्मक कहानियों की रचना की जिनमें वर्णभेद की छाया में मनोरंजन का आभास मिलता है: चित्रण की भी कमी नहीं। जब ब्राह्मणों का उद्देश्य इन कहानियों से पूरा न हुआ और जनता ज्यों-की त्यों भगवान बुद्ध की ओर आकर्षित रही तब फिर ब्राह्मणों ने राजाओं से मिलकर तथा उन्हें अपने भ्रम से प्रभावित करके बौद्ध धर्म पर आघात करने की बात सोची। इसी विचार से उन लोगों ने राजनीति-सम्बन्धी कहानियां लिखीं जो कि बौद्ध कहानियों की छाया-मात्र थीं; उनका एक संग्रह हितोपदेश नाम से निकला। ये सब कहानियाँ उस समय की परम्परा तथा सामाजिक विश्वासों की स्पष्ट झाँकी हैं। इसी प्रकार संसार के अन्य स्थानों में भी कहानियों का यही क्रमिक स्वरूप मिलता है।

कहानी-संसार-साहित्य की नींव है। हमारे यहाँ के सभी महाकाव्य तथा प्रसिद्ध नाटक हमारी प्राचीन कहानियों के आधार पर लिखे गए हैं। रामचन्द्र की कथा को छोड़ देने से हम महाकवि बाल्मीकि से वंचित रहेंगे। इसी प्रकार कृष्ण की कहानी छोड़कर महाभारत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। नल-दमयन्ती के उपाख्यान को लेकर ही श्री हर्ष ने नैषध काव्य की सृष्टि की। इसी प्रकार ग्रीस देश के ट्राय नगर की रानी देलना और ट्रोजन युद्ध की कथाओं को लेकर ही अमर इलियड बना। सम्भव है यदि महाकवि शेक्सपियर अपने नाटकों की रचना प्राचीन प्रचलित कैन्टरबरी-टेल के आधार पर न करते तो वह अंग्रेजी नाटककारों में सर्व-श्रेष्ठ न हो पाते। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य जन्मकाल से ही अपनी भाषा तथा समाज-परम्परा के अनुरूप कहानियां कहता-सुनता चला आया है। कौन ऐसा है जिसने अपनी दादी की गोद में बैठकर कुछ मनोरंजक कहानियाँ न सुनी हों।

अस्तु, कहानियों के आधार के बिना साहित्य के किसी अन्य अंग की स्थिति अस्थिर ही रहती है। कहानी-साहित्य, साहित्य के अन्य अंगों की चित्रावली की आधार पट्टिका है। केवल साहित्य में ही नहीं इतिहास में भी कहानियों का महत्व कम नहीं है। विशेषकर भारतवर्ष में तो प्रतिष्ठित घरों में प्रचलित कहानियों के आधार पर ही क्रम-बद्ध सामाजिक इतिहास बना है। संसार के सभी देश अपने यहां की दन्त-कथाओं के बल पर अपने इतिहास की रूप-रेखा निश्चित करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कहानी-कला हमारे अतीत जीवन की एक स्पष्ट शब्द-रेखा है। भारत में कहानी रचना की प्रथा है भी बहुत पुरानी। जब संसार के किसी भी देश में इसकी चर्चा तक न थी तभी यह कला हमारे यहां अति उन्नत अवस्था में पाई जाती थी। यदि अधिक नहीं तो 'पंचतन्त्र' ही पांचवीं शताब्दी का लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसलिए इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कहानी-कला का विकास सर्व-प्रथम भारत में हुआ। आँग्ल भाषा का आदि कवि चासर माना जाता है। उसके पहले किसी क्रम-बद्ध साहित्य का पता नहीं है। हाँ, कुछ स्फुट गीतों में कहानियाँ चली आती थीं। किन्तु अंग्रेज समालोचकों का कथन है कि पाश्चात्य-संसार में उन्नीसवीं शताब्दी ही कहानी का युग है। इसी शताब्दी में बालजक, फ्लावर्ट, जोला आदि कलाकारों ने कहानी साहित्य को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। अंग्रेजी साहित्य में स्टेविन्सन और किप्लि ने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं। अमेरिका में भी हाथेन, पो, ब्रेटहार्ट आदि ने इसी समय कहानियाँ लिखीं। रूस में डोस्टावेस्की, तुर्गनेव, गोर्की और टाल्सटाय ने भी रूसी साहित्य को कहानियों से इसी समय विभूषित किया। फलतः पाश्चात्य संसार में यह युग 'गल्प-युग' के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। हमारे यहां भी उनके सम्पर्क से गल्प-रचना ही इस युग की विशेषता समझी जाने लगी है। हमारे सामने भी गल्प को मनोरंजक और लोकप्रिय तथा साहित्य-युग की आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल बनाने की कठिन समस्या उपस्थित है। सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि कहानी-कला कलाकार की रुचि तथा कलात्मक प्रयोगों का प्रश्रय लेते हुए भी जीवन के आंशिक सत्य की सृष्टि है। कहानी में जीवन के औचित्य की अवहेलना नहीं की जा सकती है। यद्यपि उपन्यास की भांति कहानी में कला-विस्तार तथा चरित्र का उतना विस्तृत विवेचन और निर्माण सम्भव नहीं है, परन्तु कहानी में भी घटना-विशेष तथा भाव-विशेष की अभिव्यक्ति एक सीमित स्थिति में होते हुए भी अपने में पूर्ण होनी चाहिए। किसी भी कहानी का आदर्श-भाव ही उसका केन्द्र-बिन्दु है। इसी केन्द्र-बिन्दु से कहानीकार अपनी सहज स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता है।

यदि प्रारम्भ ही प्रवाहमय न हो सकता तो आगे जाकर गतिभंग होने का भय रहता है। उन घटनाओं तथा कार्यों का वर्णन जो कहानी के पात्रों से संयोजित है, बहुत ही व्यवस्थित होना चाहिए, क्योंकि वही तो कहानी का कथानक है। कथानक के कलेवर में हमें पात्रों के परिचय क्रमशः मिलते जाते हैं, अस्तु कथानक जितना ही स्पष्ट तथा सुन्दर होगा उतना ही सुन्दर प्रतिबिम्ब अपने पात्रों को दे सकेगा। पात्रों की आपस की बातचीत, भाव-भंगियां तथा अभिनय आदि का समन्वय स्वरूप कथोपकन की संज्ञा पाता है। अस्तु, जिस भाषा एवं प्रकार तथा नियम से कथानक, पात्र एवं कथोपकथन का निर्माण होता है उसमें ही कलाकार की अपनी व्यक्तित्व-प्रतिमा रहती है जिसे शैली कहा जाता है। इन सबके साथ कलाकार का अपना एक लक्ष्य या आदर्श भी रहता है और उसी की सरस व्यंजना में कहानी की परिणति होती है। कहानी के ये अंग विशेष हैं, यों तो जीवन के स्वरूप की भांति उसकी अभिव्यक्ति, कहानी, में भी किसी निश्चित नियम का आरोपण नहीं किया जा सकता। चाहे जो हो पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि कहानी का जीवन की स्वभाविकता तथा जीवन की परिस्थितियों से सामंजस्य अवश्य होना चाहिए। कथानक में हम किसी स्वप्न-लोक की बातों से मनोरंजन भले ही कर लें, पर उससे जीवन की सुख-दुःखमयी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का प्रकाशन नहीं होता। कथानक को जीवन से इस प्रकार सम्बद्ध रहना चाहिए जैसे वृक्ष से उसकी डालियां और उसके पत्ते तथा उसका तना, क्योंकि इन सबका मेल ही वृक्ष है। बिना शाखाओं और पत्तों के वह पेड़ नहीं चाहे ठूंठ भले ही हो। इसी प्रकार जीवन से दूर का कथानक किसी मनोविकार विशेष का ठूंठ ही रह जायगा। कथानक का आधार जान लेने पर कलाकार स्वतः उसमें वैसे ही बातों का समावेश करेगा जो जीवन-वृक्ष का पूर्ण परिचायक हो। हम जीवन की अनित्यता पर तथा उसके बहुत-से अन्य पहलुओं पर उनके प्रत्यक्ष होने पर बड़ा आश्चर्य करते हैं, उस समय ऐसा लगता है, मानो यह घटना जीवन के बाहर से आ घटी हो। जीवन का यही कौतूहल भाव, भविष्य देखने की यही आकुल आकांक्षा, जीवन को सरस तथा गतिमय बनाते हैं। इसी प्रकार कथानक का भी अन्त बहुत ही गोप तथा कौतूहलप्रद एवं आकस्मिक होना चाहिए। यहाँ भी जीवन का साम्य कथानक से है। यह कथानक किन्हीं पात्रों पर ही आरूढ़ रहता है और वे ही कहानी के पात्र होते हैं। कथानक से भी अधिक उत्तरदायित्व पात्रों के निर्माण का है, क्योंकि इसमें कल्पना की उतनी सजगता काम नहीं देती जितनी कलाकार की अनुभूति। नाम तथा रूप देकर हम अनेक पात्रों की सृष्टि कर सकते हैं, किन्तु जब तक उनमें जीवन-रस का संचार नहीं होगा तब तक वे केवल कागज़ के फूल के समान ही

रहेंगे। जिन कलाकारों में प्रतिभा होती है वे अपने कल्पना-प्रसूत पात्रों में प्राण प्रतिष्ठा करके हमारे जीवन से उन्हें इस प्रकार मिला देते हैं कि वे हमारे जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसी प्रकार हमारे सामने आते हैं जैसे हमारे परिचित पार्थिव व्यक्ति। ऐसे पात्र हमारे अन्तर-जगत तथा बाह्य-जगत दोनों में अपना बराबर प्रभाव रखते हैं। इस प्रकार के पात्रों की सृष्टि करने के लिए कलाकार को भिन्न-भिन्न लोगों के व्यक्तित्व का विषद एव व्यापक अध्ययन करना पड़ता है। इस प्रकार के अध्ययन से चरित्रों में चरित्रगत विशेषता बतलाने वाली ऐसी घटनाओं का वर्णन आता है जिनसे उन पात्रों का जीवन सहज ही में स्पष्ट-सा हो जाता है। इस प्रकार के सजीव पात्रों में भी दो प्रकार के निर्माण सम्भव हैं। एक तो वे चरित्र जो साधारण मनुष्य से ऊंचे उठे हुए-से होते हैं, जो अपनी लोकोत्तरता में जनसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं होते, क्योंकि उनके हर्ष, शोक, शक्ति सभी असाधारण होते हैं। पात्रों की यह सृष्टि प्राय: संसार-साहित्य की प्राचीन कहानियों में पाई जाती है। किन्तु अब हम जीवन को अधिक विवेचना से देखने लगे हैं और आदर्श के आडम्बर में उसे छिपाना नहीं चाहते; अस्तु हमारे लिए अब पात्र भी जन-समाज के ही भीतर से मिलना चाहिए। अब हम कल-पात्रों की मनुष्य से असमानता दूर करके उनको मनुष्यों के ही समान अपने बीच में देखना चाहते हैं। आज हम केवल गुणों के पूर्णतामय पात्रों से ही सन्तोष नहीं कर पाते, हमें तो गुण-अवगुण-साना व्यक्ति चाहिए।

आज का मानव जीवन का उच्च आदर्श बताकर ही सन्तोष नहीं कर पाता। वह तो अपने रात-दिन के जीवन को ही लेकर किसी आदर्श की कल्पना कर सकता है, क्योंकि हमारी आज की कला किसी वर्ग-विशेष की चीज न होकर सर्व-साधारण की भी सम्पत्ति है। ठीक भी है, क्योंकि मनुष्य का निर्माण स्वयं उसकी छोटी-मोटी दैनिक घटनाओं के फल-स्वरूप ही होता है। अस्तु, बिना इन छोटी घटनाओं के अतिक्रमण के हम किसी भी पात्र की अचानक असाधारणता पर विश्वास नहीं कर पाते। कलाकार को उचित है कि वह कहानी में भावों की ऐसी सृष्टि करे जिसमें मनुष्यमात्र अपना प्रतिबिम्ब देख सके। मनुष्यमात्र के हर्ष, शोक तथा राग, अनुराग के भाव समान होते हैं। केवल उनके प्रकाशन में प्रकारान्तर होता है। इस बात को समझने के लिए कलाकार को आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। सृष्टि करने के पहले उसे उसके साधन देखने पड़ते हैं।

कथानक तथा पात्रों की विवेचना के बाद हमें कथोपकथन की ओर ध्यान देना चाहिए। कहानी का मूल आधार यही अंश माना जाता है। इसी के द्वारा कलाकार हमें पात्रों से मिलाता है और उनका परिचय देता है। उनकी आपस की

बातचीत से हम सहज ही में उनके स्वभाव तथा चरित्र को समझ लेते हैं। वाणी से व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। अस्तु, बातचीत पात्रों के अनुरूप सरल और आकर्षक तथा स्वाभाविक होनी चाहिए। कहानी में चित्रित किसी अंग्रेज महिला से संस्कृत भाषा में बात कराना हास्यास्पद ही नहीं, वरन् अनुपयुक्त भी है।

ऊपर के कथानक, पात्र तथा कथोपकथन का भाषा, भाव एवं कल्पना तथा अनुभूति के द्वारा जो कलाकार जितनी रोचकता तथा सरसता से वर्णन कर सकेगा उसकी शैली उतनी ही प्रभावोत्पादक एव हृदयग्राही होगी। यहीं पर कलाकार की प्रतिभा की प्रखरता तथा चातुर्य्य की आवश्यकता होती है। कहानीकार में प्रतिभा और उसके प्रकाशन का चातुर्य्य दोनों का ही होना अत्यन्त आवश्यक है। शैली की ही उर्वर धारा में कहानी कला के कमनीय कुसुम खिलते हैं। शैली के शीशे में ही कलाकार के भाव अपना स्वरूप देखते हैं। सारांशत: कहानी के कथानक, पात्र तथा कथोपकथन-अंग-युक्त शरीर की शैली ही आत्मा है, सजीवता का स्पन्दन है। इसीसे शैली का महत्व सबसे अधिक है।

कहानी कला में मुख्यत: इन्हीं ऊपर लिखी बातों का मुख्य ध्यान रखना चाहिए। इनके अलावा भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो स्वत: कला के सत्य-स्पर्श से सिहर कर अपने आप कलाकृति में सन्निहित हो जाती हैं, जैसे दीपक में पतंगे। इनमें से भाव, भाषा का बाह्य शृंगार, कहीं-कहीं हास्य तथा व्यंग का मधुर पुट, मनोहारी प्राकृतिक चित्रण आदि विशेष उपयोगी हैं। कहानीकार को नीरसता, विषय की अवांछनीयता, घटनाओं की दैवाधीनता से सदैव दूर रहकर ही कहानी लिखनी चाहिए, क्योंकि इनमें से किसी एक का सहारा पाकर भी कहानी सौन्दर्य-बोध एव हृदय से दूर पड़ जाती है और कहानी का उद्देश्य ही हृदय को स्पर्श तथा पुलकित करना है। मस्तिष्क की उपज जब हृदय का भोजन बन जाती है तभी कहानी अपने में पूर्ण एवं कहानी कहे जाने योग्य बनती है। सूक्ष्मत: यही कहानी-कला तथा कहानी की कहानी है।

८

कहानी और उपन्यास

कविता मनुष्य के भावात्मक जीवन की अभिव्यक्ति है, भाव की ही प्रधानता और एकात्मकता कविता की मूल सम्पत्ति है। इसका यह मतलब नहीं कि कविता में भाव की सूक्ष्मता के सिवा चिन्तन एवं मनन होता ही नहीं। ये सभी होते हैं, लेकिन एक खास सीमा तक। कहानी भी एक प्रकार से कविता ही है; और जहाँ तक उसकी रूपरेखा में भावना का कुछ भी अंश है, वहां तक तो उसे कविता कहना कोई आपत्तिजनक बात नहीं हो सकती। कहानी में हृदय की भावना की अपेक्षा मस्तिष्क की चिन्तना अधिक होती है; कविता की कल्पना की अपेक्षा कहानी में दैनिक जीवन की सत्यता ही अधिक सजीव दिखाई देती है। अतः दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों में कोई विशेष अन्तर नहीं; दोनों ही अपने-अपने रूप में, मानव-जीवन की परिपूर्णता में, सहायता देती हैं। भावना ही जीवन नहीं है, कल्पना ही अस्तित्व नहीं है; और उधर दूसरी ओर चिन्तन ही जीवन नहीं है, कठोर सत्य ही सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण रूप में भावना तथा चिन्तन का संयोजन कल्पना तथा सत्य का संश्लेषण जीवन के सजीव मूल हैं और इन दो अलग-अलग सयोजित तत्त्वों का नाम ही मानव-जीवन है।

अभिव्यक्ति ही मानवपन है; और खासकर भाषा के रथ पर चलती व्यजना तो मनुष्य एव पशु के अन्तर की विभेद-रेखा है। बिना अभिव्यक्ति की शक्ति के मनुष्य पशु है, और बिना भावमूकता के पशु मनुष्य है—यही मनुष्य-पशु का एक स्वाभाविक भेद है। मतलब यह नहीं कि पशु अपने भावों को कभी व्यक्त नहीं करता, या अभिव्यक्ति की शक्ति उसमें मूलतः कुछ भी नहीं है; किन्तु कहने का मुख्य भाव यह है कि प्राणी अपनी शक्ति की समतौलता में सबकी शक्तियों को तोलता है; अपने स्वाभाविक गुणों की भित्ति पर अन्य प्राणियों के गुणों के होने तथा न होने का अनुमान लगा लेता है अथवा ऐसा ही कोई प्रकृत कथन (Verdict) 'पास' कर देता है, क्योंकि अपने प्रति की अहम्मन्यता एवं अहंकार उसकी एक स्वाभाविक-सी आदत हो गई है।

हाँ, तो स्वभाव मे ही मानव अपने को व्यक्त करना चाहता है। वह अपने आसपास जो भी कुछ देखता है, उस पर जो कुछ भी उसका दिमाग़ काम करता है तथा उससे जो भी उसकी भावनाओं में प्रगति आती है, मनुष्य चाहता है कि वह सब-का-सब किसी से कहा जाय, सारा विचार, भावना तथा कल्पना से भरा घट किसी के सामने उँडेल दिया जाय। इसी को अभिव्यक्ति की संज्ञा दी गई है। कहानी ऐसी ही कितनी असंख्य अभिव्यक्तियों में से एक अभिव्यक्ति है। यों तो जो भी कुछ मनुष्य कहता है, वह सभी अभिव्यक्ति के नाम से पुकारा जा सकता है; किन्तु मनुष्य की किसी भी चीज को सीमाबद्ध करने की एक अच्छी एवं बुरी प्रवृत्ति हो गई है। अतः उसने सारी अभिव्यक्तियों को कहानी न मानकर एक खास प्रकार की अभिव्यक्ति का ही कहानी नामकरण किया है।

हमारा भौतिक जीवन, और मोटे रूप से हमारा पार्थिव अस्तित्व, केवल घटनावलियों का ही एक क्रमबद्ध इतिहास है। जन्म से जीवन की राह प्रारम्भ होती है और मृत्यु के छोर पर जाकर रुक जाती है। जन्म-मृत्यु के बीच का यह एक लम्बा रास्ता ही हमारा जीवन है। प्राणी इस रास्ते में यात्रा करने के लिए इस पृथ्वी पर आता है, वह चलता है और अपने पथ के दोनों ओर अनेक दृश्य देखता है; बीच में अनेकों घटनाओं से गुज़रता है। ये घटनाएँ बिना किसी क्रम के, तारतम्य के, बेतरतीब आती हैं, और वास्तव में अपने अकेले रूप में कोई परिपूर्ण आशय नहीं देतीं, कोई खास 'मीनिंग' नहीं ध्वनित करतीं, एक खास निश्चित नतीजा नहीं निकालतीं। जब ये घटनाएं इस प्रकार आबद्ध करके एव चुनकर रखी जाती हैं कि उनसे एक परिणाम-विशेष निकले अथवा उनका सम्बद्ध क्रम किसी निश्चित सीमा पर पहुचे तो अभिप्राय रूप में एक पूर्ण इकाई बन जाती है, एक पूरा चित्र-सा सामने आ जाता है—ऐसा चित्र, जिसमें पहली रेखा से लेकर अंतिम रेखा तक सारी रेखाएँ एक ही सम्पूर्ण भाव को दर्शावें, एक ही सम्प्रति विचार (Impression) दें। ऐसे चित्र को ही कहानी कहते हैं।

इस प्रकार यदि कहानी एक ही विचार (Idea) या एक ही भाव (Impression) की अभिव्यक्ति का नाम है, तो उपन्यास अनेक विचारों और अनेक भावों की एक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। अर्थात् यों कहना चाहिए कि वह एक भाव-संग्रह की कहानी है, जिसमें कहानी की भाँति कोई निश्चित परिणाम होता है। जिस भाँति कहानी किसी खास दिशा की ओर, किसी खास प्राप्ति के लिए, किसी भावना-विशेष को मूल में लेकर चलती है, उपन्यास भी उसी भाँति एक निश्चित दिशा, एक निश्चित प्राप्ति तथा एक निश्चित भावना को लेकर चलता है। दोनों में चलने की दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं; और दोनों का पथ भी

एक ही है—जीवन के ही पथ पर दोनों चलते हैं। स्पष्ट रूप से दोनों का साम्य या असाम्य, दोनों का सम्बन्ध या विच्छेद इसी भाँति है, जिस भाँति एक लहर और एक नदी का होता है। लहर में नदी है और नदी में लहर है। नदी सागर की ओर बहती है, लहर भी सागर की ओर बहती है—दोनों का एक पथ है, एक ध्येय है, एक गति है। लहर अपने में पूर्ण है, अपने में अपनी है; नदी भी अपने में पूर्ण है, अपने में अपनी है; दोनों अलग-अलग हैं, और दोनों एक हैं। यही हाल कहानी और उपन्यास का है। दोनों अपनी-अपनी विभिन्न सत्ता में पूर्ण हैं, अपनी-अपनी अवस्था में, गति में, स्वच्छंद हैं। कहानी में यदि मानव-जीवन की एक झलक है, एक दृष्टि-बिन्दु का 'स्नैप' (Snap) है, तो उपन्यास में मानव-जीवन की एक सम्पूर्ण तस्वीर, एक सम्पूर्ण प्रकाश-रेखा—मानो कहानी जीवन के चन्द्रमा की एक किरण हो और उपन्यास जीवन-चन्द्र की सम्पूर्ण किरणों का एक किरण-जाल; एक किरण में चन्द्रमा है और सम्पूर्ण किरण-जाल में भी चन्द्रमा है—जीवन का चन्द्रमा दोनों में है। अतः हम देखते हैं कि कहानी और उपन्यास में केवल विस्तार का ही अन्तर नहीं, वरन् मूल सत्त्व का भी विशेष अन्तर है। एक जीवन का पूर्ण चित्र है, दूसरी जीवन की केवल एक अवस्था की एकात्म तस्वीर। किन्तु भूलकर भी दोनों का विहार-स्थल जीवन से परे नहीं है; जीवन की भूमि पर ही दोनों का विकास है तथा जीवन की भूमि पर ही दोनों का विनाश भी। दोनों जीवन की ही वस्तुएँ हैं। जीवन से अलग की तटस्थ दर्शिकाएँ (Onlookers) नहीं।

आजकल कहानियों की बाढ़-सी आ गई है—किसी भी प्रकाशक की दूकान में, किसी पुस्तकालय की अलमारियों में, ह्वीलर के किसी भी 'स्टाल' में जहाँ देखें वहीं कहानी और उपन्यास की भरमार है। सचमुच में कहानी और उपन्यास ही आजकल की दुनिया का प्रधान साहित्यांग हो गया है; और साहित्यों की बात जाने दीजिए, हमारे हिन्दी-साहित्य में ही देखिए, तो स्पष्ट है कि कहानी और उपन्यास की जितनी अधिकता है, उतनी किसी भी अन्य साहित्यांग की नहीं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का युग गद्यकाल कहलाता है; किन्तु यदि इसे हम 'कथाकाल' कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वर्तमान हिन्दी-साहित्य में कथा-गद्य के अतिरिक्त और है ही क्या? हिन्दी की किसी भी पत्रिका के पृष्ठ उलटिए, जितनी ज्यादा तादाद में कहानियाँ मिलेंगी, उतनी ज्यादा तादाद में गद्य-व्यंजना की अन्य-सामग्री नहीं। इसका रहस्य क्या है? अचानक यह असीम बाढ़ कैसी? और क्यों इस युग में ही यह बाढ़ इतनी व्यापक है, अन्य युगों में क्यों नहीं थी? आदि प्रश्न स्वभावतः हमारे सामने आते हैं। और इनको टाल

कर जाना भी ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि बिना इन प्रश्नों पर विचार किये तथा इनका उत्तर सोचे हिन्दी के कहानी-साहित्य की आलोचना अधूरी ही रह जायगी। इन प्रश्नों के अन्दर ही तो कहानी का रहस्य छिपा है; इनको इसी प्रकार छोड़कर निकल जाना आत्मा के प्रति तो अन्याय है ही, किन्तु आलोचना के सांगस्वरूप पर भी कुठाराघात करना है। हाँ, तो टिड्डियों के दल की भांति हमारे समय पर और परोक्ष रूप से साहित्य पर इन छोटी-मोटी कथाओं का आक्रमण क्यों? प्रश्न पर विचार करने से सबसे पहले हमारे सामने मानव-स्वभाव का मूल तत्त्व आता है। जीवन के संघर्ष से ऊबकर मनुष्य की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा होती है कि मनोरंजन के शांत स्पर्श से अपने श्रांत-क्लांत शरीर को कुछ विश्राम दे; दैनिक जीवन की उलझनों को सुलझाते-सुलझाते वह घबरा-सा जाता है, एक आक्रांत-भार से बोझिल हो जाता है। ऐसे समय में वह किसी ऐसी स्थिति में डूबना चाहता है, जिसमें वह अपनी सम्पूर्ण श्रम-श्रांति को कम-से-कम क्षण-भर के लिए भूल जाय, क्षण-भर के लिए वह इस कठोर यथार्थ की दुनिया से उठकर ऐसी दुनिया में पहुँच जाय जहाँ चाहे उस दुनिया की पीड़ा हो, वेदना हो, पर कम-से-कम इस दृष्ट जगत् की समस्याएँ एवं अपने से सम्बन्ध रखने वाली वही बातें तो न हों। ऐसी स्थिति प्रदान करनेवाला सबसे सरल साधन है कहानी या उपन्यास। कहानी और उपन्यास दोनों ही इस वस्तु-जगत् की सरल-से-सरल एवं सुलभ-से-सुलभ व्यंजनाएँ हैं और मनोरंजन के तत्त्व की तो जितनी अधिकता इनमें है, उतनी साहित्य के किसी और अंग में नहीं। अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या मनोरंजन ही साहित्य का मुख्य ध्येय है। उत्तर में कहा जा सकता है कि नहीं; और वास्तव में कहानी का मूल उद्देश्य भी मनोरंजन नहीं। मनोरंजन से मेरा मतलब संतोष की ऐसी साँस से है, जो जीवन के संघर्षावृत सत्य को आवरण से हटाकर हमारे नवीन उत्साह एवं नवीन स्फूर्ति के लिए हमारे सामने लावे; हमारे जीवन के दर्शन के अमृत घट को उँडेलकर क्लांत शरीर की नस-नस में सींच दे। यही मनोरंजन 'साहित्य का मनोरंजन' है; ताश के खेल का या ब्रिज की बाज़ी का उथला (Trite satisfaction) या खोखला संतोष नहीं। मेरे विचार में यह खोखला मनोरंजन कहानी का उद्देश्य नहीं, वरन् मैं कामना करता हूँ कि कहानी अथवा उपन्यास में वस्तुतः मनोरंजन की वह अनुभूति रहे, जिसकी रग-रग में जीवन का दर्शन अबाध गति से बहता हो; जिसकी लहर-लहर में सत्य की वह भावना हो, जो हमें प्रकाश के एक पुनीत प्रवेग में डुबो दे। अस्तु, इसी मनोरंजक तत्त्व की सरलता एवं अधिकता के कारण कहानी और उपन्यास हमारे आसपास इतनी अधिक संख्या में हैं। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के विकास ने हमारे जीवन में यथार्थ

का वह ठोस तत्त्व मिश्रित कर दिया है, जो आवश्यकता से अधिक हमारे दैनिक स्वातन्त्र्य में कभी-कभी बाधा डालने लगता है। यथार्थ के इस रात-दिन के संसर्ग से हमारा जीवन भी भावना की सूक्ष्म एवं कोमल भूमि से हटकर तर्कना (Reason) की स्थूल भूमि पर आ गया है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हमारा जीवन पोयेटिक (Poetic) की अपेक्षा अधिक प्रोज़ेक (Prosaic) हो गया है। अतः यह स्वाभाविक है कि भावनामूलक साहित्य की अपेक्षा इस युग में तर्कनामूलक साहित्य को ही प्रधानता मिले। वर्तमान युग में कहानी और उपन्यास के साहित्य की बहुलता का एक प्रधान कारण यह भी है; किन्तु सबसे बड़ा कारण है कहानी एवं उपन्यास की आकर्षण कला (Attractive technique)। कहानी एवं उपन्यास की 'टेक्नीक' इतनी अधिक परिपूर्ण एवं सफल व्यंजक हो गई है कि अन्य साहित्यांग वहां तक नहीं पहुंच सके।

वर्तमान काल में कहानियों और उपन्यासों की इस अधिकता से यह भ्रम न होना चाहिए कि कहानी और उपन्यास इस काल की चीजें हैं अथवा इसी काल में इनका जन्म हुआ है या केवल हमारे साहित्य की या विशद रूप से हमारी ही देश की ये सम्पत्ति हैं। पृथ्वी के जन्म से लेकर आज तक सर्वदा कहानी की धारा अक्षुण्ण रही है। इसकी उत्पत्ति बताना तो सृष्टि की, या प्रकृति और पुरुष की उत्पत्ति बताना है। सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में ही कहानी का प्राण, उसकी आत्मा है। सृष्टि ही एक साकार सचित्र कहानी है और सृष्टि का उत्पादक भी कुछ और नहीं, सिर्फ एक रहस्यमयी कहानी है।

अनेक लोगों की धारणा है, और अपनी धारणा में वे इतने हठी एवं दृढ़ भी हैं कि कभी-कभी तो अपने कान और आँखें भी बन्द कर लेते हैं, कि हिन्दी-साहित्य में कहानी या उपन्यास का पूर्णतया अभाव है; कहानी और उपन्यास हिन्दी-साहित्य या भारतीय साहित्य में थे ही नहीं। वास्तव में इनका विरोध करना एक व्यर्थ की बात एवं अपने अमूल्य समय की हानि ही मालूम पड़ती है। चारों वेद, सम्पूर्ण बौद्ध-ग्रंथ, जैन-ग्रंथ, पुराण, रामायण, महाभारत आदि सभी कहानी और उपन्यास के अपने-अपने रूप हैं। हाँ, शायद इन महानुभावों को उनमें यूरोपीय ढंग की शैली एवं मैटर (Matter) नहीं मिलता है, इसीलिए वे असंतुष्ट हैं। किन्तु भारत तो यूरोप नहीं है। कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि वे लोग शायद यह भी कह दें कि भारतवासी मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि उनका रंग यूरोपीय मनुष्यों की तरह का नहीं है।

कहानी और उपन्यास की वर्तमान रूप-रेखा खड़ी-बोली के गद्य की देन है; और पूरे संतोष के साथ पहले के सब प्रयत्नकारों को छोड़कर यह कहने में कोई

आपत्ति नहीं हो सकती कि हिन्दी में आधुनिक कथा का प्रादुर्भाव श्री देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास लेखन से ही हुआ है। उनका 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास आज भी सैकड़ों पाठकों को उसी प्रकार आत्म-विभोर कर देता है। प्रचार की दृष्टि से तो गोस्वामीजी की रामायण के पश्चात् उसी का स्थान आता है। उनके सभी उपन्यास जासूसी, ऐयारी की सामग्री से परिपूर्ण हैं और इसीलिए आजकल उनके ऊपर लोग 'असम्भवता' का दोषारोपण भी करते हैं, किन्तु यह उनकी भ्रांति है। हम उनके आक्षेप का उत्तर स्व० खत्री जी के ही शब्दों में देते हैं—"कौनसी बात हो सकती है और कौन नहीं हो सकती, इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देश-काल-पात्र से सम्बन्ध रखता है।" दूसरे उनके उपन्यास-लेखन का उद्देश्य भी कुछ और ही था। उस समय हिन्दी-पाठक कितने थे? और जो थे भी, तो उनमें से कितने जानते थे कि कलात्मक उपन्यास किस चिड़िया का नाम है? उस समय तो इस बात की आवश्यकता थी कि हिन्दी वालों की पढ़ने की ओर अभिरुचि बढ़ावें और हिन्दी की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करें। यह आवश्यकता रोचकता के तत्त्व के समावेश से ही हो सकती है। खत्री जी ने इसी का सम्मिश्रण अपने उपन्यासों में किया। कुतूहल, मनोरंजन तथा बहलाव के दृष्टिकोण से तो वे बड़ी सफलता के साथ स्काट (Scott) एवं ड्यमा (Dumas) के समक्ष प्रतीत होते हैं। और 'ड्यमा' तथा 'स्काट' को कितने सम्मान के साथ हमारे पाठक एवं आलोचक पढ़ते हैं, किन्तु अपने घर के स्काट पर अपने भ्राता ड्यूमा पर कैसी उपेक्षा से हँस देते हैं! क्योंकि वह भारतीय है ना! हाँ, तो 'चन्द्रकान्ता' की अपील इतनी व्यापक हुई कि हिन्दू तो हिन्दू अपितु अनेक मुसलमानों ने भी सिर्फ़ चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। जनता की जागृति के साथ साथ एक और महत्त्वपूर्ण कार्य श्री खत्रीजी की साहित्य-उपासना से हुआ—वह है उपन्यास एवं कहानी की भाषा का निश्चय जिसके पथ पर ही आजकल हमारे उपन्यास-कार एवं कहानी लेखक चल रहे हैं और इसी राज-मार्ग का अवलम्बन प्रेमचन्दजी ने भी किया है। भाषा-निर्णायक के स्वरूप में स्व० खत्रीजी का महत्त्व और भी बढ़ जाता है, जब कि हम महात्मा गांधी तक के मुँह से सुनते हैं—"चन्द्रकान्ता की भाषा बड़ी आसानी से आदर्श राष्ट्र-भाषा हो सकती है।"

खत्रीजी की इस जागृति एवं मनोरंजन के पश्चात् मानो जैसे कथा-साहित्य का द्वार खुल-सा गया। श्री माधवप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार घोष तथा श्री किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों ने अनेक मनोरंजक, शिक्षाप्रद एवं कुतूहलवर्धक कहानियां और उपन्यास लिखे। ये सब कृतियां, जो कि इन लेखकों की लेखनी से प्रसूत हुईं, वर्तमान चरित्र-चित्रण तथा जीवन-दर्शन के कलात्मक तत्त्वों से मानो परिचित

ही नहीं थीं, वरन् उपदेश तथा शुभ-अशुभ कर्मों का परिणाम-प्रदर्शन करना ही इनका मुख्य उद्देश्य हुआ करता था। हाँ, श्रीगिरिजाकुमार घोष की कुछ कहानियों में कला का अच्छा आभास मिलता है। और तो अधिकांश कहानियां एवं उपन्यास केवल घटनाओं के ही क्रमहीन और अर्थहीन विस्तृत जाल हुआ करते थे। हिन्दी-साहित्य में आधुनिक प्रणाली की कहानियों एवं उपन्यासों के बीज श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा और पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कथा-साधना में प्राप्त होते हैं। स्व० जयशंकरप्रसादजी ने भी इसी काल में अपनी कुछ कहानियां प्रकाशित करवाई थीं। कौशिकजी की कहानियों का संग्रह 'चित्रशाला' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें उनकी सभी प्रकार की कहानियां संकलित हैं, किन्तु मुझे 'ताई' और 'स्मृति' नामक कहानियां विशेष मनोरंजक एवं कलात्मक लगीं। यों तो कौशिकजी की सभी कहानियां किसी ध्येय-विशेष को लक्ष्य करके चलती हैं, किन्तु इस उद्देश्य-निर्माण के प्रयत्न में स्वभावतः कला की प्रकाश-रेखा भी चमक उठती है। अपनी साधना में वे घटनाएँ एवं पात्र लेने में तो वर्तमान यथार्थवादी संप्रदाय (Realistic school) की भांति ही साधारण-से साधारण वातावरण की ही खोज करते हैं, किन्तु चित्रण में वे इस 'रियलिस्टिक मेटीरियल' से पात्रों के व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते, जैसा कि हमको यथार्थवादी सम्प्रदाय के लेखकों में मिलता है।

श्री चतुरसेन शास्त्रीजी की कहानियां परिमाण में क़रीब-क़रीब सभी लेखकों से बाजी मार ले जाती हैं, किन्तु कलात्मकता की दृष्टि से उनमें एक परिमित सफलता के ही दर्शन होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनकी अनेक कहानियां 'लिखने के लिए' ही लिखी गई हों। किन्तु जैसा ओजस्वी एवं भाव-व्यंजक गद्य शास्त्रीजी लिख पाये हैं वैसा बहुत कम लेखक लिख सके हैं। अपनी कहानियों की अपेक्षा उन्होंने अपने उपन्यासों में ही अपनी प्रतिभा का विशेष आभास दिया है। उनकी "अमर अभिलाषा" और "हृदय की प्यास" हिन्दी के उपन्यास-साहित्य की दो उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। दोनों में शास्त्रीजी के यथार्थवादी दृष्टिकोण (Realistic view) का पात्रों के हृदय-द्वंद्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कौशिकजी ने भी 'मां' नामक एक बड़ा-सा उपन्यास लिखा है, किन्तु शास्त्रीजी का-सा चरित्र-चित्रण उनकी तूलिका से नहीं अंकित हो सका। हां, कथोपकथन में कौशिकजी अवश्य शास्त्रीजी से विशेष दक्ष हैं।

पं० ज्वालादत्त शर्मा की कहानियां सभी समाज की रूढ़ियों को लेकर चली हैं और आर्यसमाजी दृष्टिकोण से उन रूढ़ियों एवं परम्परागत प्रथाओं का उपहास एवं खंडन ही उनकी कहानियों का मुख्य उद्देश्य रहता है। वे कलाकार की निर्लिप्तता

से विमुख होकर एक समाज-सुधारक का ही रूप धारण कर लेते हैं। गुलेरीजी का जीवन-काल थोड़ा ही रहा और वे शायद तीन-चार कहानियां ही लिख सके, किन्तु उनकी एक मणि उनके कलाकार-स्वरूप को हिन्दी-साहित्य में चिरकाल तक ज्योतित रखेगी—यह मणि है 'उसने कहा था।' कहानी-कला के सभी तत्त्वों का इसमें सुन्दर निरूपण है।

'प्रसाद' जी हमारे साहित्य के एक महान् कलाकार हैं। किन्तु और सब कुछ होने से प्रथम वे एक कवि हैं। उनकी सभी प्रकार की रचनाओं में उनका कवि-रूप ही विशेष व्यापक प्रतीत होता है। उनके दो उपन्यास हमारे साहित्य-मंदिर में हैं। 'कंकाल' उनकी शुरू की रचना है और 'तितली' उस समय की जब उनकी लेखनी हिन्दी की प्रौढ़ लेखनी हो गई थी। चरित्र-चित्रण और आंतरिक संघर्ष उनकी कला के स्तंभ नहीं हैं। उनकी काव्यमय लेखनी वातावरण का ही संश्लिष्ट चित्रण कर पाई है, व्यक्ति का नहीं। दूसरे, भाषा भी उपन्यास के उपयुक्त भाषा नहीं कही जा सकती। भाषा की काव्यमयता का दोष उनकी कहानियों की आभा को भी आच्छन्न कर गया है। प्रसादजी की कहानियाँ देश, काल और पात्र सभी दृष्टि से अतीत के गर्भ की चीजें हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे वर्तमान से आँखें मूँदकर रात-दिन अतीत के धुँधले-से तहखाने में ही रहते थे। हां, चाहे जो हो, किन्तु प्रसादजी की कहानियों का एक अपना अलग ही स्कूल है। विनोदशंकरजी व्यास और राधिकारमणसिंहजी प्रसाद-स्कूल के ही अनुगामी कहानी लेखक हैं। भावना की दृष्टि से प्रसादजी करुणा के कलाकार हैं। उनकी सभी प्रकार की कृतियों में करुणा के तत्त्व की जो सजीव साकारता मिलती है, वह उनकी अपनी चीज़ है और कोई भी लेखक इस क्षेत्र में प्रसादजी के समीप नहीं पहुँच पाया है।

कथा-साहित्य की शैली एवं आत्मा की इसी अनिश्चित धूमिलता में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई, जिससे हिन्दी-गद्य का आंगन जगमगा उठा। यह घटना थी प्रेमचन्द जी का हिन्दी-साहित्य में अवतरण। प्रेमचन्दजी का वास्तविक नाम धनपतराय था। पहले वे उर्दू में ही कहानियां लिखा करते थे। उर्दू में उनका नाम 'नवाबराय' था। किन्तु हिन्दी के सौभाग्य से उनकी लेखनी हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुई—कथा-साहित्य की सुरसरि बह चली। इस अवतरण-काल से लेकर अपने असामयिक मरण-काल तक प्रेमचन्दजी ने कुल मिलाकर चार सौ के लगभग कहानियां लिखीं और एक दर्जन से ज्यादा उपन्यासों की रचना की। उनकी कहानियों और उपन्यासों का वातावरण अधिकांशतः भारत के ग्रामों में हैं। वे भारत की उस जनता की भावना एवं व्यथा के चित्रकार हैं, जो अपनी हृदय-

ज्वाला को, लाचार गरीबी को और नि:सहाय वेदना को कभी कह नहीं सके हैं, जिनके आलोड़ित भाव आजीवन होठों पर ही आकर मिट गए हैं, जिनकी निर्जीव नि:श्वासें चिता की लपटों के साथ ही बाहर निकली हैं और जिनकी बेबस वेदना निराश आंखों के कोने में ही सूख गई है। प्रेमचन्दजी की लेखनी भारत के इसी मौन-मूक समाज की भावनाओं को लेकर कथा की लड़ियों में बिखर पड़ी है।

प्रेमचन्दजी की साहित्य-साधना के काल में ही उत्साही नवयुवकों का एक दल कथा-साहित्य के गगनांगण में प्रदीप्त नक्षत्रों की भांति बिखर पड़ा। सर्वश्री जैनेन्द्र-कुमार, भगवतीचरण वर्मा, 'अज्ञेय', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और 'पहाड़ी' इनमें प्रमुख हैं। जैनेन्द्रजी का आज हिन्दी के कथा साहित्य में एक प्रमुख स्थान है। उनकी कहानियों में हृदय-द्वन्द्व की जो सूक्ष्मता तथा suspense की जो प्रगल्भता मिलती है, वह उनकी अपनी विशेषता है—अंतस्तल के प्रशांत एवं तरंगाकुल प्रदेश का ऐसा परिपूर्ण चित्रण हिन्दी में बहुत कम मिलता है। किन्तु उनमें एक बड़ी खटकने वाली कमी है। वह है उनके दर्शन की सघनता और जटिलता। भावुक-कल्पना का अभाव उनकी कहानियों एवं उपन्यासों को कला के भावात्मक क्षेत्र से शुष्क एवं तटस्थ कर देता है। अपनी अनुभूति और भावना में वे पाश्चात्य कथा-साहित्य के ऋणी हैं, और 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के सबसे प्रथम प्रचारकर्त्ता और पृष्ठपोषक जैनेन्द्रजी ही हैं। जैनेन्द्रजी के उपन्यास प्रेमचन्दजी के आदर्शवादी उपन्यासों की प्रतिकूल यथार्थवादी प्रतिक्रियाएँ हैं। 'सुनीता', 'परख' उनके दो उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है। 'सुनीता' में अत्यधिक गत-महायुद्ध की प्रतिक्रिया (too much Post-war reaction) के सजीव तत्त्व हैं। कभी-कभी जैनेन्द्रजी का अनावश्यक विस्तार-प्रेम मन को उबानेवाला हो जाता है। 'परख' की भाषा बड़ी सरल एवं सजीव है, और यदि उसे उपन्यास की भाषा का आदर्श कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती, किन्तु उनकी शैली आत्म-चेतना से बोझिल-सी है। श्रीभगवती बाबू जैनेन्द्रजी से पूर्व के लेखक हैं। उनका 'चित्रलेखा' उपन्यास हिन्दी की एक बहुमूल्य सम्पत्ति है। वह किसी भी श्रेष्ठ पाश्चात्य उपन्यास के समक्ष रखा जा सकता है। यद्यपि उसकी 'पृष्ठभूमि' (background) पाश्चात्य कथा की अनुभूति का परिणाम है, किन्तु भारतीय संस्कृति की आत्मा को उसमें प्रतिष्ठित करके उन्होंने दिखला दिया है कि मौलिकता की परिभाषा क्या होती है। इधर अभी उनका 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास छपा है, जो यथार्थवाद का एक प्रमुख वाहक (organ) है। वर्माजी ने इसमें जीवन की सहजशील बाह्य प्रवृत्तियों का ही चित्रण किया है। उपन्यासों के सिवाय वे कहानियां भी लिखा करते हैं। 'इंस्टालमेंट' उनकी नवीन कहानियों

का संग्रह है। वर्माजी की कहानियों में जीवन की विविधता ही विशेष मिलती है, गंभीरता नहीं। विचारों की बाढ़ संयमन से होड़ लेती है।

नवयुवक कहानी लेखकों में 'अज्ञेय' जी को विशेष सफलता मिली है। यदि उनको हम वर्तमान कहानी-लेखकों में सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कहें तो कोई अनुचित नहीं होगा। जीवन के संघर्ष की अपेक्षा हृदय का संघर्ष ही उनकी कहानी का मूल विषय है। उनकी काव्यात्मक भावुकता अंतर की सूक्ष्म तरंग-भंगी को और भी साकार कर देती है।

नवयुवक 'पहाड़ी' जी ने जितनी शीघ्रता से कहानी-साहित्य में अपना नाम जमा लिया, उसे देखकर आश्चर्य होता है। उनकी कहानियों में suspense-element की जो आभा रहती है, वह हिन्दी में और कहीं नहीं दिखाई देती; किन्तु 'पहाड़ी' जी की भाषा कभी-कभी अस्वाभाविक रूप से प्रांतीय हो जाती है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनके उपन्यास मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा सुरुचिपूर्ण स्वाभाविकता एवं वास्तविकता में अपने ढंग के अनोखे हैं। उनके पात्र केवल कल्पना के पाले पुतले न होकर हाड़-मांसयुक्त प्राणी हैं। वे आदर्शवाद की ओट में सहृदयता के संबल से, कभी भी जीवन के जटिल संघर्ष से, दूर नहीं भागते। उनके उपन्यासों को पढ़कर मालूम होता है कि उन्होंने जीवन के केवल प्रकाशमय पहलू का ही अनुभव अथवा चित्रण नहीं किया, वरन् जीवन-जाल के निदारुण अंधकार में पैठकर भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश विकीर्ण किया है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में हम जीवन का राग-विरागमय सर्वांगीण चित्रण पाते हैं। वे जीवन के उल्लास से उदासीन नहीं, विषाद से विचलित नहीं, दोनों के सुख-सामंजस्य के अधिनायक हैं।

"यथार्थवाद और आदर्शवाद, दोनों का क्षेत्र सामाजिक होते हुए भी दोनों की निवासभूमि अलग-अलग है। आदर्शवाद यदि विवेक-मूलक होकर अपने अभीष्ट का प्रतिपादन करता है, तो यथार्थवाद भाव-मूलक होकर। आदर्शवाद यदि व्यक्तियों के समूह द्वारा अग्रसर होता है, तो यथार्थवाद व्यक्ति-विशेष के मनोभावों द्वारा। और व्यक्ति-विशेष की हार्दिक समस्या ही सम्पूर्ण सामाजिक समस्या की इकाई है, यथा सिन्धु के लिए बिन्दु।" उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों का, अनुभूति की सचाई के साथ, रासायनिक सम्मिश्रण जोशीजी के उपन्यासों की अनुपम विशेषता है। उन्होंने बड़ी सुन्दरता और सतर्कता से अप्रिय तथा प्रिय सत्य दोनों की आत्मानुभूति अभिव्यक्त की है, वे जीवन के एक-एक क्षण के कलाकार हैं। उनका उपन्यास-साहित्य विश्व-उपन्यास-साहित्य के सामने भी सम्माननीय होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। जोशीजी ऐसे कलाकार संसार में सदैव देर से समझे गए हैं।

अस्तु, हमें उन्हें हिन्दी में इस रूप में पाकर आश्चर्य नहीं। भारत यदि कभी भाग्य से अपने जीवन और साहित्य में सावधान हो सका, तो जीवन के बीच सुघरता से साहित्य की स्थापना करनेवाले साहित्यिकों का सम्मान भी कर सकेगा। सम्भवत: वह दिन शीघ्र आने वाला है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने भी अनेक कहानियां लिखी हैं, और वे हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में एक बड़े अरसे से लिखते चले आ रहे हैं। जैनेन्द्रजी की भांति उनकी कहानियां भी पाश्चात्य अध्ययन से अनुभूत हुई प्रतीत होती हैं। उनमें व्यक्तित्व-विकास की एक खास अपनी विशेषता है।

इन नवयुवकों के ही बीच दो हिन्दी के श्रेष्ठ कहानी-लेखक एवं उपन्यास-प्रणेता बहुत पूर्व से हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। पहले हैं श्री सुदर्शनजी और दूसरे श्री इलाचन्द्र जोशी। सुदर्शनजी हिन्दी के दूसरे प्रेमचन्दजी हैं। उनकी कहानियां अनुभूति एवं भावना में बिलकुल प्रेमचन्दजी की ही भांति हैं। किन्तु उनमें एक प्रवृत्ति-विशेष कुछ खटकनेवाली लगती है, वह है उनकी कुछ कुछ उपदेश देते हुए चलने की प्रणाली। इस उपदेश-पद्धति से कला का स्वरूप गौण हो जाता है। किन्तु उनकी-सी भाव-व्यंजक शैली हिन्दी की अन्यतम चीज़ है; ऐसी अभिव्यक्ति हिन्दी में अभी तक तो नहीं के बराबर है। श्री जोशीजी की कहानियां अपनी एक विशेष धारा लेकर चलती हैं। उनकी कहानियों में मनोभावों का सूक्ष्मतम तरंगाभिघात एवं जीवन के मूल तत्त्वों का विश्लेषण हिन्दी में अपनी एक अलग ही विशेषता रखता है; और यदि सच पूछा जाय तो जीवन एवं अंतस्तल के भाव-प्रतिभावों का तुमुल संघर्ष हिन्दी के कहानी-साहित्य में जोशीजी की देन है। जोशीजी का यह प्रयत्न अभिनंदनीय है। बहुत पहले विश्वमित्र तथा माधुरी में जोशीजी के धारावाहिक उपन्यास भी निकले थे जिनमें सफल उपन्यास के सभी तत्त्व विद्यमान थे, किन्तु उन पर अधिक विचार उनके प्रकाशन के बाद ही हो सकता है।

इन कलाकारों के अतिरिक्त हिन्दी में अन्य विशिष्ट कथा-कलाकार काफी बड़ी तादाद में हैं। सर्वश्री 'उग्र', वाचस्पति पाठक, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, 'निराला', ऋषभचरण जैन, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', मोहनलाल नेहरू, 'भारतीय', सद्गुरुशरण अवस्थी, मोहनलाल महतो, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा आदि इनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'उग्र' जी हिन्दी-साहित्य में एक उल्कापात की भांति आकर लोप-जैसे हो गए हैं। यथार्थवाद का जैसा सचित्र स्वरूप 'उग्र' जी की कृतियों में मिलता है, वह किसी भी पाश्चात्य यथार्थवादी (Naturalistic) कथाकार से कम नहीं। 'निराला' जी ने कहानियों के अतिरिक्त उपन्यास भी

लिखे हैं। उनकी 'अप्सरा' हिन्दी की एक श्रेष्ठ कथा-कृति है। वातावरण का अपनी विशेषता से चित्रण 'निराला' जी की अपनी विशेषता है।

एक बड़े हर्ष की बात है कि हमारे महिला-समाज ने भी कथा-साहित्य में एक बड़ी क्षति की पूर्ति की है। इधर कुछ वर्षों से हिन्दी में महिलाओं की काफ़ी ऐसी तादाद हो गई है जिनकी लेखनी से हिन्दी के कथा-साहित्य की काफ़ी पूर्ति हुई है। श्रीमती शिवरानीदेवी ने अपने पति (प्रेमचन्दजी) की प्रेरणा से हिन्दी में काफ़ी अच्छी कहानियां लिखीं। सुभद्राकुमारीजी चौहान ने इसी काल में स्त्रियों के अत्याचारों के विरुद्ध आंदोलन करनेवाली अनेक कहानियां लिखीं। 'उन्मादिनी' नाम का उनका कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। श्रीमती तेजरानी पाठक, श्रीमती उषादेवी मित्रा, कमलादेवी चौधरी, होमवतीजी एवं सत्यवती मलिक आदि इस युग की प्रधान कहानी लेखिकाएं हैं। इनमें श्रीमती कमलादेवी चौधरी को स्त्री लेखिकाओं में सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखिका कहा जा सकता है। 'उन्माद' उनकी कहानियों का एक सुरुचिपूर्ण संग्रह है। भावों की विरोधी दिशाओं के चित्रण में कमलादेवीजी की सफलता उनके कलाकार को बहुत ऊँचा उठा देती है। उषादेवी जी दूसरी प्रसिद्ध कहानी-लेखिका हैं। हाल ही में उनका 'पिया' नामक उपन्यास भी छपा है। उनकी काव्यमय भाषा उनकी कृतियों में एक स्त्री-सुलभ कोमलता का समावेश कर देती है।

इन कहानी लेखकों एवं लेखिकाओं के अतिरिक्त हिन्दी में अनेक उदीयमान एवं उत्साही लेखक-लेखिकाएं हैं, जिनसे हिन्दी को बड़ी आशा है।

आज का युग हमारे साहित्य का स्वर्णयुग है। साहित्य के क़रीब क़रीब सभी अंगों में उन्नति एवं विकास की आभा बड़ी शीघ्रता से व्याप्त होती जा रही है, किन्तु हमारा कथा-साहित्य जितनी द्रुत गति से अपने पथ पर आरूढ़ है, उतना ही हमारे भावी प्रकाश का स्तंभ भी समीप आता जा रहा है। हिन्दी की अनेक कहानियां एवं उपन्यास संसार के किसी भी श्रेष्ठ कथा-साहित्य की सम्माननीय श्रेणी में स्थान पा सकते हैं।

भविष्य के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता, किन्तु मनुष्य का मन अनुमान का बड़ा हठीला आदी है; भविष्य के बारे में वह कुछ-न-कुछ सोचा अवश्य करता है। हमारे वर्तमान की गति से हमें हमारे भविष्य के प्रति कोई असन्तोष नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर उन्नति एवं विकास के ही आसार नज़र आते हैं। हाँ, एक बात। ऐसा मालूम होता है, और वर्तमान संसार की over-crowded समस्याएँ इस अनुमान को पुष्ट भी करती हैं कि धीरे-धीरे उपन्यासों की गति प्रबन्ध-काव्यों की-सी बिरली (frequent) हो जायगी; और कोई आश्चर्य की

बात नहीं कि सुदूर भविष्य में उनकी नस्ल भी लोप हो जाय। इस chaotic विश्व में आज उपन्यास पढ़ने का लोगों के पास समय भी तो नहीं रहा, इसीलिए कहानी की ओर आकर्षण बढ़ता जा रहा है। पर किसे ज्ञात है क्या होगा; और चाहे कुछ भी हो, हमें आशा है कि हम हिन्दी वाले कम-से-कम इस क्षेत्र में तो किसी से पीछे न रहेंगे; भविष्य और समय इसको चरितार्थ कर देगा।

६

वर्तमान काव्य में वेदना

प्राय: लोग कहते हुए सुने जाते हैं कि जब से हिन्दी काव्य में नवीन धारा 'छायावाद' का आविर्भाव हुआ तब से 'बिखरे वीणा के तार' तथा 'मूक वेदना का भार' ढोते हुए कवि चीख रहे हैं। काव्य में वेदना की बाढ़-सी आ गई है। वास्तव में यह सच भी है। वर्तमान काव्य में जितनी कसक, आह तथा भावों की मीठी मनुहार है, उतनी अन्यत्र नहीं है; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वर्तमान कवियों ने प्रेम की मादक रागिनी नहीं अलापी, बासंती तान नहीं छेड़ी, उल्लास की वीणा पर भव्य भावनाओं की कोमल अंगुलियाँ नहीं फेरी तथा कल्पना के कमनीय पंखों पर उड़कर संसार की सुनहली झाँकी नहीं ली।

भारतीय साहित्य-समाज के अन्त:पट पर 'छायावाद' ने अपनी सरसता, स्निग्धता तथा संगीतमय अभिनव अभिव्यक्तियों के द्वारा जिन काव्यगत भावनाओं का चित्र खींचा है, वह अमिट और अमर है। इसको तो सभी मानते हैं कि जब हमारा देश पराधीनता के पाश में जकड़ा हुआ हो, हमारी अबला मातृ-शक्ति नित्य ही अपमानित हो रही हो, जहाँ के मनुष्यों को दिन-भर की कड़ी मेहनत के बाद एक बार भी भर-पेट भोजन न मिलता हो, जहाँ के असंख्य बच्चे बिना उचित पालन-पोषण के अकाल ही काल के गले में चले जाते हों, जहां पीड़ित जनता खून के आँसुओं में रोती हो, वहाँ के कवियों की 'ओस-मोती की माला', 'बसंत का वैभव', मूक वेदना का बेसुरा राग गाना असामयिक-सा लगता है, किन्तु संसार के भिन्न-भिन्न मनुष्यों के कार्य संपादन के भिन्न-भिन्न ढंग होते हैं; एक साधारण मनुष्य की अपेक्षा एक महान् व्यक्ति का कार्य-सम्पादन अधिक सुरुचिपूर्ण होगा, एक कलाकार का कार्य-सम्पादन अधिक कलात्मक होगा, यह भी व्यक्तित्व का एक निश्चित नियम तथा आधार है।

जिस समय भारत में मुसलमानों का शासन था, उनके अत्याचारों से हिन्दू जाति खिन्नमना थी, उसका हृदय संतप्त था, कसक और व्यथा की उलझन उसके मन तथा शरीर को बेचैन कर रही थी, उसकी आँखों के सामने उसकी बहू-बेटियां

क्रीनी जाती थीं और उसके स्वाभिमान पर नृशंस शासकों का नग्न नाच हो रहा था, तब भारत के भक्त वैष्णव कवियों ने प्रेम तथा शृंगार एवं आनन्द के गीतों की तान छेड़ी थी और अपने मन के उन्हीं मधुर गीतों से देश की रक्षा की थी, विदेशियों के अन्याय-सागर में डूबती हुई भारत की सांस्कृतिक नौका को पार लगाया था। अस्तु, कवि की अन्तश्चेतना का रहस्य समझना एक कवि का ही कार्य है, किसी भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक उद्बोधन का मार्ग वह स्वयं समझता है और अपने अमर गीतों से उसी ओर के मार्ग को प्रशस्त करता है। इसीलिए वैष्णव कवियों ने उस संकट के समय भी कृष्ण के उस योगिराज स्वरूप का जिसने महाभारत में अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश दिया था, आह्वान नहीं किया था। उन्होंने यह कहीं नहीं चाहा कि कृष्ण भगवान् भारत की आर्त दशा देखकर उसमें 'युक्तसंग: समाचार' की भैरव रागिनी भर दें, नवजीवन तथा नवप्रभात की ज्योति चमका दें। यहाँ तक कि स्वयं कवियों ने भी अपना मधुर राग छोड़कर राष्ट्रीयता की उन्मादक तान नहीं छेड़ी थी, वरन् सभी हृदयों ने एक ही प्रेम के सूत्र में बँधकर छैल-छबीले कृष्ण की रासलीला का मनोरम गान गाया था। कृष्ण के मधुर और शृंगारिक रूप को ही काव्य में चित्रित किया था। उसमें 'प्रेम की पीर' की व्यंजना बड़ी मनोहारिणी हुई थी। उस समय के प्राय: सभी कवियों से आराधित कृष्ण के रूप-विलास की लहरों से उलझा हुआ सीमाहीन सौंदर्य ही हिन्दू जाति की रक्षा का सागर बना था। कवियों ने सौंदर्य और माधुर्य के माध्यम से जनता की आत्मचेतना को जगा दिया था और उसे अपनी पूर्ण मानवता के पथ पर अग्रसर कर दिया था। उन कवियों के प्यार का वह प्रकाश, अनुराग का वह राग, शृंगार की वह पराकाष्ठा, आज भी उस समय की बची हुई हिन्दू जनता अपनी पलकों के स्वप्नों में संजोये है।

अस्तु, यदि मुसलमानकालीन परिस्थिति में कवियों ने प्रेम और आनन्द के मादक एवं मोहक गानों से देश की रक्षा की थी, जनता का भला किया था, पतित एवं गुलाम जाति की नस-नस में नवजीवन के उष्ण रक्त का संचार किया था तो क्या आज का कवि अपने मन के मधुरतम आत्मगीतों से समाज, देश तथा संसार का कुछ भी भला नहीं कर सकता? क्या वह अपनी आत्मा से स्वत: निसृत स्वतंत्र गायन द्वारा स्वतन्त्रता का आह्वान नहीं कर सकता? संसार की किसी भी परिस्थिति में कभी भी कवियों के लिए संचालक की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि वे स्वतन्त्र प्रकृति के स्रष्टा होते हैं। किसी प्रकार का संचालन वहाँ सफलता नहीं पा सकता। कवि के मनोभावों का प्रवाह स्वभावत: संसार में नवजीवन फूँकने के लिए होता है, सत्य के संदेश का वाहक होता है, किंतु एक कलात्मक ढंग से और एक विशेष दृष्टिकोण से।

मेरा उद्देश्य यहाँ कवियों का गुणगान करना नहीं है, वरन् 'छायावाद' में काल्पनिक कही जाने वाली वेदना का तात्विक विश्लेषण है। इस लेख में मैंने 'कवि-वेदना' का मूल कारण खोजने और उसे यथासंभव स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस विषय में मित्रों की अनुमतियों से मैं अपने को अनुगृहीत समझूँगा।

(१) कवि स्वभावतः भावुक होता है और भावुक व्यक्तियों के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाएँ उठती रहती हैं। कवि अपने भावातिरेक में, हृदय-सागर में उठी हुई भावना-तरंगों को अपनी कल्पना-शक्ति से पकड़ना चाहता है और समय समय पर उन्हीं भावनाओं को भाषा की शरण लेकर संसार के सामने उपस्थित करने को विकल हो उठता है और यथासाध्य उनका प्रकाशन भी करता है; तभी विश्व में काव्य सृष्टि होती है। किन्तु हृदय के सत्य की गंभीरता और तीव्रता कल्पना के चित्रों से उतनी स्पष्टता से कहाँ प्रकट हो सकती है? हृदय-सागर में हिल्लोलित प्रकृति की तरंगमाला काव्य में अपने मौलिक रूप में कैसे चित्रित हो सकती है? जो सजीव है, स्पंदनशील है उसका निर्जीव चित्र उतना सप्राण कहाँ हो सकता है? क्या कभी कल्पना और स्मृति से वास्तविकता का स्पर्श सम्भव है? कदापि नहीं। अस्तु, कवि के मानस का संगीत भावुकता तथा कल्पना के आन्दोलन से निखर कर स्वच्छ और सुन्दर भले ही हो जाय, किन्तु वह क्षीण और करुण अवश्य हो जायगा। फिर कवि हृदय की झलक तो स्वभावतः अस्पष्ट होती ही है—'समझ कौन सका किसी के हृदय को।'

यही अभिव्यक्ति की अपूर्णता कवि-वेदना का कारण है।

(२) संसार का मूल-तत्त्व प्रेम है; वस्तुतः कवि सृष्टिकर्ता के नाते प्रेमी होता है, किन्तु प्रेम की सरस धारा में अमृत की अपेक्षा गरल का ही अंश अधिक है। प्रेम अपनी सिद्धि के लिए सदैव भयंकर वियोग-सागर में कूद पड़ता है, क्योंकि कवि की दृष्टि में प्राप्ति से आशा अधिक प्रिय है, मिलन से विरह अधिक मादक है, शायद इसी कारण सुख की अपेक्षा दुख अधिक स्थायी और मधुर माना गया है। मिलन में, सुख में, प्रिय को पाकर बाकी सारा संसार भूल-सा जाता है और एकरूपता इतनी बढ़ जाती है कि शेष संसार से कवि अपरिचित-सा हो जाता है—'भूला सब संसार प्यार में'; किन्तु वियोग में, दुख में—'मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।' फिर भी जिस प्रेम के बल पर चकोरी चन्द्रमा को, मयूरी मेघ को, तथा सरोजिनी सूर्य को इतना अंतर तथा इतनी दुर्निवार दूरी होते हुए भी अपने हृदय में स्थापित किये है वह प्रेम सामीप्य और दूरत्व की क्या अपेक्षा रखेगा? क्योंकि—

रङ्गमय है देव दूरी,
छू तुम्हें रह जायगी यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी !

मिलन में हम अपने बाहर तथा वियोग में भीतर रहते हैं ; इसीलिए कहा जाता है कि मिलन की छाया के भीतर जो विरह की झाँकी है, वही जीवन की सच्ची प्रतिमा है—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है,
विरह प्रेम की जागृति गति है, और सुषुप्ति मिलन है ।

अस्तु, जिस हृदय में प्रेम का अंश जितना अधिक होगा उसमें उतनी ही अधिक शीतल जलन तथा मादक वेदना की सृष्टि होगी । मनुष्य का 'अहं' स्वयं अपने के प्रति प्रेम-पीड़ाओं के पर्दे में छिपा रहता है । चाहे जो हो, परन्तु कभी-न-कभी संयोग-वियोग दोनों की सरसता भी तो एकरसता और उनके बाद नीरसता का रूप लेगी ही । अस्तु, इस प्रेम की द्वन्द्वात्मकवृत्ति के निवारण के लिए कवि प्रेम की द्वैत भावना को लेकर एक असमंजस में पड़ जाता है, जिसके कारण उसे कष्ट का अनुभव होता है ।

यही प्रेम का असामंजस्य कवि-वेदना का कारण है ।

(३) युग युगों से कहा जाता है कि 'जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि,' अर्थात् कवि की दृष्टि बहुत व्यापक होती है । वह संसार को उसके सच्चे स्वरूप में देखता है और उसे अपने कल्पना-विरचित संसार से मिलाता है तब उसे इस स्थूल संसार से स्वभावतः असन्तुष्ट होना पड़ता है, क्योंकि जन्म-मरण की समस्या सामने आती है और संसार के प्रति विराग-भावना का आविर्भाव होता है । वास्तव में यह ठीक भी है कि संसार में हास की उज्ज्वल रेखाओं की अपेक्षा रुदन की प्रगाढ़ धूमिल रेखाएं अधिक हैं । आदि कवि वाल्मीकि का भी हृदय इसी स्थूल संसार की करुणा के अचानक आघात से ही काव्य में फूट पड़ा था । चूँकि कल्पना के साथ कामना भी चलती है, और कामना वेदना की जननी है, संसार में मनुष्य की सृष्टि अपूर्णता में ही हुई है । अस्तु, कवि संसार के अभाव को भावमय बनाने का प्रयत्न करता है और इन्हीं कामनाओं तथा कल्पनाओं की विफलता उसकी वेदना का कारण बनती है, क्योंकि संसार के जिस प्राणी को जीवन की सारी लालसाएँ किसी दूसरे की इच्छा से छोड़नी पड़ें, उसकी भावनाएं क्या दुखमय न होकर, सुखमय होंगी ? इसलिए कवि गा पड़ता है —

नश्वर-स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत

यही कामनाओं की विफलता, कवि-वेदना का कारण है ।

(४) आत्मानुभूति सौंदर्य की अभिव्यक्ति का, काव्य का, उच्चतम महत्त्व है, किन्तु सौंदर्य का सुख केवल मानसिक है, क्योंकि मन ही भावनाओं का केन्द्र है। सौंदर्य बोध बिना आकार के सम्भव नहीं है और इस स्थूल ससार में सत्-सौंदर्य का आकार देखना कठिन है, क्योंकि सौंदर्य सदैव मूक और अस्पष्ट ही रहता है, इस सृष्टि के अनन्त सौंदर्य की यही परिभाषा है। यहाँ तक कि सौंदर्य-निधि तथा सौंदर्य का मूक स्रोत होने के कारण हमारे यहाँ भगवान् को भी अव्यक्त तथा अस्पष्ट कहा गया है। अस्तु, कवि जब कभी अपने स्थूल जीवन से ऊबकर अपने उस परम सौंदर्य की ओर उन्मुख होता है तब उसकी साधना की गति रस की शरण लेती है और वह करुण काव्य में पुलकित हो उठती है। इस प्रकार की सौंदर्य-पिपासा हृदय और शरीर दोनों की छाया से प्रकट होती है और इसका कारण लौकिकता के साथ अलौकिकता स्थापना की प्रबल इच्छा मात्र है। सौंदर्य-बोध की इस संचालन-शक्ति के बिना जीवन के मूल रहस्य का समझना तथा मानव का उस महामानव से सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। फिर कवि को तो संसार में रहते हुए स्वर्ग का मार्ग दिखाना पड़ता है, क्योंकि कवि सबके हृदयस्थ परमात्मा तथा शक्ति की ओर संकेत करता है और जन-समाज के सामने महत्त्व का अभिनव मार्ग खोल देता है, किन्तु यदि उसकी सौंदर्य-रुचि परिमार्जित न हुई तो वह इस नश्वर ससारी सौंदर्य में भटक जाता है और सोचने लगता है, 'जो जीवन था वह स्मृति है, जो सहवास था वह बनवास है और जो शून्य था वह भरा है,' और इन्हीं चिन्ताओं की ज्वाला में झुलसने-सा लगता है।

यही सौन्दर्य-बोध की अस्पष्टता कवि-वेदना का कारण है।

(५) कवि बहुत संवेदनशील होता है, किसी का दुख देखकर वह अपना दुख सुख भूल जाता है और उसकी निगूढ़ वेदना का अनुभव करते हुए कांप-सा उठता है, क्योंकि सहानुभूति और सहृदयता कवि हृदय की प्रधान सम्पत्तियां हैं। वह किसी के भाव-भरे आँसुओं को देखकर स्वयं अश्रुसजल हो जावेगा। उसकी सहानुभूति और सहृदयता की व्यापकता, उसके ससार के व्यावहारिक तथा परमार्थिक, दोनों प्रकार के दुखों के प्रति संवेदनशीलता से और भी बढ़ जाती है।

मेरे हंसते अधर नहीं, जग की आंसू लड़ियां देखो,
मेरे गीले पलक छुओ मत, मुरझाई कलियां देखो।

यही मानवीय दुर्बलताओं के प्रति संवेदनशीलता कवि-वेदना का कारण है।

(६) मानव-हृदय की वेदना का एक युग भी होता है जब उसे केवल यही कामना करनी पड़ती है कि—

अमर वेदना ही हो मेरे सकल सुखों का मीठा सार।
प्यास ही जीवन, सकूँगी तृप्ति में मैं जी कहाँ?

यह युग बहुत करुण और विस्मय-बोधक है, ऐसा होना भी आवश्यक है क्योंकि करुण-वेदना जीवन की तत्त्वमयी आवश्यक वास्तविकता है। विशेषकर जब से हमारे कवि समष्टि को छोड़कर व्यष्टि की तरफ अधिक आकर्षित हुए और उनकी अभिव्यक्ति एकान्त साधना के रूप में होने लगी और रहस्यवाद का आविर्भाव हुआ तब से आत्मा और परमात्मा की वियोग-व्यथा की वेदना काव्य में उमड़-सी पड़ी है। हमारे संस्कृत कवि भवभूति के—'एको रसः करुण एव' तथा अँग्रेजी कवि शेली के Our sweetest songs are those that tell of saddest thought भी काव्य में वेदना के सहायक सिद्ध हुए। वास्तव में पारलौकिक प्रेम-भावना आत्मा की साधना है और हमारे साहित्य के प्रधान साधना प्रतीकों में व्यक्तिवाद सदैव वेदना-प्रधान रहा है, क्योंकि आत्मावादी संसार में जन्म लेना ही एक पीड़न मानता है। यहां आकर उसे पुनः परमात्मा प्राप्ति की तपस्या तथा साधना में लीन होना पड़ता है, जो कष्ट-साध्य होती है। इसी वियोग-व्यथा को भुलाने के लिए भारत ने अवतारवाद की शरण ली थी और एक व्यक्ति-विशेष में लोग उस पूर्ण पुरुष की कल्पना कर लेते थे, किन्तु बुद्धि के विकास के साथ उसका ह्रास-सा हो गया और लोग वास्तविकता के अस्तित्व की ओर अधिक अग्रसर होने लगे। अस्तु, रहस्यवादी कवि का जीवन ही वियोग दुख के साथ हुआ—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात,
जीवन विरह का जलजात।

यही रहस्यात्मक वियोग-व्यथा कवि-वेदना का कारण है।

(७) संसार में यथार्थवाद को लेकर कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिन्हें अपना सुख-दुख, मिलन-वियोग तथा उत्थान-पतन संसार का मापक यंत्र-सा बना रहता है। ऐसा कवि जीवन की जटिल वास्तविकता में पड़कर कुछ झुँझला सा उठता है और यह झुँझलाहट उसकी काव्यधारा में भी अन्तः सलिला सरस्वती की भाँति प्रवाहित रहती है; प्रायः यथार्थवादियों का यही हाल है। साहित्य में ठोस निराशा का बहुत ऊँचा स्थान नहीं है, फिर वह यदि व्यक्तिगत पार्थिव अतृप्ति का फल हो तो और भी अग्राह्य है। किन्तु अपने ही में व्यस्त कवि की वेदना का कारण उसकी अपनी संसारी अतृप्ति ही रहती है।

या यहां प्रतिपल, प्रतिदिन, प्रतिवार,
बहा करती है तप्त बयार !
मुझको मिला न कोई ऐसा जो कर लेता प्यार !

यही व्यक्तिगत पार्थिव अतृप्ति कवि-वेदना का कारण है ।

प्रत्येक व्यक्ति की व्यथा की कथा का कारण भिन्न-भिन्न होता है, परन्तु काव्य की वेदना की अनुभूति का स्पन्दन विश्व-व्यापी और एक होता है । ऐसी ही वेदना 'छायावादी' कवियों में पाई जाती है । यों तो किसी के सामने कल्पना के रूप में आने वाली कितनी ही बातें, घटनाएँ, किसी के जीवन की प्रत्यक्ष और सत्य घटनाएँ हो सकती हैं, परन्तु विशेषकर कवि-वेदना तो केवल अनुभवगम्य है, उस पर किसी का कुछ भी आक्षेप मेरी समझ में अधिकारपूर्ण नहीं कहा जा सकता है ।

यथा —**'कौन जानता है रे कवि के मन की रुचि सुकुमार ।'**

१०

काव्य में वेदना-माधुर्य

सत्य आत्मा की सनातन ज्योति है। प्रलयकाल में अनादि वृक्ष के पत्तों पर शयित शिशु ने एक सक्रिय अनुभूति का स्पर्श किया—वह एक दिव्य एव अमर आलोक की रश्मि-रेखा थी, वह सत्य की शाश्वत स्पदन-लहरी थी। उसे पाकर उस वृक्ष की सूखी नसों में संजीवन की साँस जग उठी, किसलय की क्रोड़ इस दिव्य द्युति को अपने भीतर भरने के लिए आकुल हो उठी। बस फिर शाश्वत-पदों से पहले सृजन आया, फिर विकास की प्यास।

सृष्टि-क्रम में, जन्म-मरण, अश्रु-हास, मिलन-विरह की सीमा में घिरा हुआ प्राणी पृथ्वी के धरातल से उठा और अपनी मानवीय अपूर्णता से पूर्णता की ओर उठने का पवित्र प्रयत्न करने लगा। यह मानवता की सत्य ही एक पूर्णता है। इसी पूर्णता की खोज में मनुष्य अनन्त काल से अपने जीवन के सफल-असफल व्यापारों में लीन है—यही कला की कल्लोलिनी है, साहित्य का स्रोत है और संगीत की स्वर-लहरी का प्राण है। इसी सत्य में अनश्वरता और चिदानंद के प्राण समाये रहते हैं, जिसको छूकर वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास अमर हो गए।

कलाकार की साध्य परिणति इसी प्रकार कथा के छूने पर होती है। साहित्य में सत्य की यही संजीवनी सम्मान्य होती है, क्योंकि प्रत्येक कला की सुन्दर कल्पना इसी आलौकिक स्पर्श से जीवित हो पाती है। कला के किसी क्षेत्र में हमें इस 'पारस' की आवश्यकता है, क्योंकि श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में इस 'पारस' के स्पर्श से सब कुछ सोना हो जाता है—'एक पागल-से चित्रकार को जब फटा कागज़, टूटी तूलिका और धब्बे डाल देनेवाला रंग मिल जाता है तब क्षण-भर में वह निर्जीव काग़ज़ जीवित हो उठता है, रंगों में कल्पना साकार हो उठती है, रेखाओं में जीवन प्रतिबिंबित हो उठता है, उस पार्थिव वस्तु के अपार्थिव रूप के साथ हम हँसते हैं, रोते हैं और उसे मानवीय सम्बन्धों से बाँध रखना चाहते हैं।'

हमारा हिंदी काव्य-साहित्य भी इसी 'पारस' सत्य की समीपता प्राप्त करने का सफल प्रयत्न कर रहा है। अनेक कवि, लेखक तथा गायक अपनी कला की साधना को साथ लिये इसी पथ का अनुसरण कर रहे हैं। आधुनिक काल में श्रीमती महादेवी वर्मा इन पथिकों में सर्वाधिक सफल हैं। उनकी काव्य-साधना उनके हृदय के अध्यात्म की एक गंभीर, अतल प्रवासी अनुभूति है, क्योंकि उन्होंने सांध्य-गीत की भूमिका में लिखा है—'सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरांत, भाव के संस्कार-मात्र से मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ, दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्तक्रंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है, जिसमें संयम का नितांत अभाव है; उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है, जिससे संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निश्वास में भी है जिससे संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है, जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आर्त्तक्रंदन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक को दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं। मीरा के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था; उसके बाह्य राजरानीपन और आंतरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अतः उसका 'हेरी, मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना को स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। उसके इस उपर्युक्त विवेचन से हम इस निश्चय पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि उसने जो कुछ लिखा, वह उसके हृदय की अमर अभिव्यक्ति है, जो मानवीय सीमा के अंतिम पद पर पहुँच चुकी है, और यहाँ से देवत्व के उस अनंत तथा अलौकिक प्रकाश की सुदूर प्रसारित किरणों में से अपनी ज्ञातव्य और ग्राह्य किरण का स्पर्श एवं चयन कर चुकी है और उसने अपनी कला के पावन 'पारस' से लौकिकता की अपूर्णता को पूर्णता के पथ पर पहुँचा दिया है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या, कैसी बाधा !

आकुलता की चिर-तन्मय ज्योति जगाकर वे जीवन के दिव्य सत्य की झलक देख चुकी; उसके अंतस्तल की करुण पुकार ही आज राधा बनकर अपने चिर-सत्य—मोहन की—स्मृति द्योतित कर रही है। विरह के अश्रु-सजल क्षण आज अपने दिव्य आराध्य के साथ एकाकार हो गए, फिर जीव और ब्रह्म क्या ? माया और ब्रह्म क्या ? जीवन क्या ? और मरण क्या ? अश्रु-हास, अमापूर्णिमा, आलोक-अंधकार—सब स्वरैक्य का शाश्वत स्वरूप बन गए। यही सत्य की परम ज्योति है, मानव-जीवन की अमर साधना की पुनीत परिणति है। उपनिषदों के मनीषी ऋषियों ने सत्य की खोज में अपने जीवन को पुनीत बनाया था, उन्हीं के दिव्य अनुभवों और पुनीत पदचिन्हों पर महादेवीजी की साधना का दिव्य-दीपक समुज्ज्वल है। उपनिषदों के मतानुसार पार्थिव की ससीमता और अपार्थिव की असीमता के विस्तृत आवरण में स्थित जड़-चेतन के निरंतर परिवर्तन तथा पूर्णता की चिरंतन प्रवृत्ति में सामंजस्य की स्थापना ही सत्य के सहज ज्योतिर्मय स्वरूप का अस्तित्व है। महादेवीजी इसी पथ की अचल पथिक हैं। इस समन्वय का जैसा उज्ज्वल एवं कल्याणकारी स्वरूप उनकी साधना में आलोकित है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है—

सेतु शूलों का बना बाँधा विरह-वारीश का जल;
फूल-सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल;
दुःखमय सुख, सुख भरा दुख
कौन लेता पूछ जो तुम ज्वाल जल का देश देते ?

अथवा—**विरह की घड़ियाँ हुईं, अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी !**
सजनि ! अंतर्हित हुआ है 'आज' में धुँधला विफल 'कल';
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल;
राह मेरी देखती स्मृति अब निराश पुजारिनी-सी !

आधुनिक हिन्दी काव्य-वीणा से अश्रु-तरल वेदना का गीला गान ही निःसृत हो रहा है। 'पंत' और 'प्रसाद' के अंतर्लोक वेदना की चिरंतन निर्झरिणी से ही कल्लोलित हैं। विरह-व्यथा की तरल लड़ियाँ करुणा की मूर्ति बनकर 'प्रसाद' के भावलोक को अभिव्याप्त कर रही हैं। 'प्रिय' से उपेक्षित एवं अनपेक्षित प्रेम के प्रतिदान का अभाव कवि की साँस-साँस में जीवन की आकुलता आलोड़ित कर गया है। 'प्रसाद' का कवि-चातक अधीर हो उठता है—

चिर तृषित कंठ से तृप्ति विधुर, वह कौन अकिंचन अति आतुर ?
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश ध्वनि कंपित करता बार-बार,
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार !

जीवन की पलकों पर सूने क्षणों का अज्ञात और असह्य भार प्रस्थित हो जाता है; एकाकीपन की आक्रांत व्यथा शून्य के क्षितिज से उतरकर जीवन के मुकुल को भाराच्छन्न करने लगती है। जीवन का गतिमय सरल सहज प्रवाह सहसा अवरुद्ध होकर फूट पड़ता है—

कब तक और अकेले ? कह दो हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत अपनी निधि न व्यर्थ खोलो ?

कितनी तिमिरमयी निराशा ! कितना विवश-अवश उद्गार ! ज्वाला को आँसू से बुझाकर धूम्र का कितना घनीभूत वाष्पीय विस्फोटन ! मानव-हृदय की इस परिव्याप्त प्लुक्ति के पश्चात् उदबोधन का पुनीत पवन चलता है और कवि का मानस अपने विस्मृत और विगत अतीत की गोद में सहज शिशु की भाँति अपना सजल मुख छिपा लेता है—

अब जागो जीवन के प्रभात !
वसुधा पर ओस बने बिखरे, हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुण गात, अब जागो जीवन के प्रभात !

अथवा —**वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !**
जब सावन-घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे।
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे !

'प्रसाद' की इस भारान्वित व्यथा से क्षणिक त्राण पाने का दूसरा शरण-स्थल अपने 'प्राणप्रिय' का सतत आवाहन और उसके दिव्यागमन की मनुहारमयी प्रतीक्षा है।

मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे !
खिंच जाय अधर पर वह रेखा जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा, वह स्मित का चित्र बना जा रे !

इसके अतिरिक्त उनकी एक और परित्राण पर्णिका है, वह है संसार-चक्र के परिवर्तनमय क्रम की चरम सत्यता पर परम आस्था। सुख-दुख जीवन की चिरंतन नवीनतामयी सुरम्य आँख-मिचौनी है।

चिर वसंत का वह उद्गम है, पतझर होता एक ओर है,
अमृत-हलाहल यहाँ मिले हैं, सुख-दुख बंधते एक डोर हैं।

'प्रसाद' जी की वेदना में आश्रय की आशा है, उनके आँसू में भविष्य के गर्भ में छिपी उल्लास राशि की प्रत्याशित छाया है, उनके निश्वासों में अभावपूर्ति का एक मंगलमय दिव्य संदेश है।

महादेवीजी का कवि पार्थिव जीवन की नश्वर क्षणभंगुर आशा-स्फुलिंग की टिमटिमाती क्षीण प्रकाशरेखा पर विश्रामस्थ नहीं होता। उन्हें हास अश्रु की चिर-परिवर्तनमयी माया की उलझन और भी पीड़ाप्रद अनुभव होती है। उन्होंने कण-कण में अनुप्राणित सत्य को और भी आगे चलकर समझा है। सुख की गोद में दुख और दुख की छाया में सुख की स्मृति—इसीमें तो द्वैत की बाधा निहित है। वे जीवन के सत्य के इस प्रथम सोपान से और ऊपर के सोपान पर पहुँच जाती हैं जहाँ सुख-दुख अपनी स्वतन्त्र विलग सत्ता का परित्याग कर एकाकार हो जाते हैं—द्वैत अद्वैत हो जाता है। इसी दिव्य समन्वय में सत्य की परम ज्योति उद्भासित हो रही है।

सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति इसी पार्थिव सत्ता के प्रवर्त्तन क्षेत्र में, इसी जीवनगति के शाश्वत प्रवाह में होती है, जो कि अपनी अचल साधना में चरम परिधि के सीमित क्षेत्र को पार कर जाता है, और इसी कारण अनंत अनिर्वाच्य तत्त्व का मधुर निर्देश करता है। जड़ चेतन के व्यष्टि-रूपात्मक अनिवार्य एवं अपरिहार्य तत्त्वों की समष्टि का लक्षण ही परम जीवन है और इसलिए सत्य है। इसी दिव्य सत्य की स्वर्ण आभा छूकर महादेवीजी का प्रशांत कवि कह पड़ता है—

क्यों मुझे प्रिय हों न बंधन !
बन गया तमसिंधु का आलोक सतरंगी पुलिन-सा
रजभरे जगबाल से है अंक विद्युत का मलिन-सा
स्मृति-पटल पर कर रहा अब वह स्वयं निज रूप अंकन !

किंतु विषमताओं की आत्मसात् परिणति और भी भास्वर एवं परिपूर्ण हो जाती है—

चाँदनी मेरी अमा का, भेंट कर अभिषेक करती ;
मृत्यु जागृति के पुलिन दो आज जागृति एक करती ;
हो गया अब दूत प्रिय का प्राण का संदेश, स्पंदन !

किंतु यहीं तक उनकी भावना का प्रवाह संतुष्ट हो निश्चेष्ट नहीं हो जाता। वे जीवन के गहनतम प्रकाश को और भी सृष्टि-समष्टि रूप में देखती हैं—

दमकी दिगंत के अधरों पर स्मित की रेखा-सी क्षितिज कोर,
आ गये एक क्षण में समीप आलोक तिमिर के दूर छोर,
घुल गया अश्रु में अरुण हास हो गई हार में जय विलीन !

इस निरामय स्थिति में न आशा की मृगमरीचिका की क्षणिक तृप्ति में छिपी निराशा की प्रच्छन्न निर्धूम ज्वाला का अस्तित्व है और न निराशा की अश्रु-प्लाविनी के अंतराल में अचिर उल्लास का चिर करुण अहमिति का अमर निवास। यहाँ स्वीय पूर्णता है, अभाव और अनभाव के इस दिव्य एकात्म ही में 'आनन्द' है—यहाँ पहुँचकर 'प्रियतम' का वियोग कैसा ? यहाँ 'महामिलन' का चिदानंदमय सजल प्रसाद है, जिसके प्रमुद संस्पर्शन से प्रकृति का कण-कण एक चिर नवीन और चिर मधुर रागिनी में परिणत हो जाता है—

सजग प्रहरी से निरंतर जागते अलि रोम-निर्भर !
निमिष के बुद्बुद मिटाकर, एक रस है समय-सागर !
हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले !

ससार की कण-कण निर्लायित माया की सम्मोहन लीला से अपने आत्म-रूप को अपरिचित एवं अस्पर्शित रखने के लिए दार्शनिक मनीषी और आर्त भक्तगण मोक्ष अथवा मुक्ति के हेतु 'परमप्रिय' की आराधना करते हैं। स्वार्थ का कितना एक रस और जड़ीभूत तांडव ! महादेवीजी के कवि ने इससे विमुख होकर कितनी मधुर साधना का अवलंबन किया है ! उन्हें मोक्ष-मुक्ति की अभिलाषा नहीं। वे तो चाहती हैं—

आज वर दो मुक्ति आवे बंधनों की कामना ले !

इस बंधन में ही वे अपने जीवन की परम एवं चरम सार्थकता उद्भासित पाती हैं, क्योंकि इस अनोखी कारा के धूमिल वातावरण में ही उन्हें परम सत्य की चिदानंद ज्योति के दर्शन हो पाये हैं; यहाँ आकर ही वे विरोधमयी विषमताओं से ऊपर उठकर संसृति के गहन अंतराल में आच्छन्न परम सत्य के दिव्य संदेश को सुन पाई हैं—

विरह का युग आज दीखा, मिलन के लघु पल-सरीखा,
दुःख-सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ' न सीखा !
मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले !

विरह वेदना के अन्तस्तल से उत्थित तरल हिमकण लेकर, कविवर पंतजी की काव्य-साधना भी अपना उन्मन अंचल ओढ़े परम सत्य के चिर विहान के शाश्वत आवाहन में तन्मय थी। विरह आता है, कवि के हियशतदल पर तुषार भाराक्रांत मेघ बनकर, वे उसके एक ही संस्पर्शन से सिहर जाते हैं—कोमल किसलय-सा मन और तुषार की प्राणांतक हिम सजल शीतलता ! वे व्यथित होकर चीत्कार कर उठते हैं—

मेरा पावस ऋतु सा जीवन,
मानस सा उमड़ा अपार मन ;
गहरे, धुँधले धुले, साँवले,
मेघों से मेरे भरे नयन।

अथवा—मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वान को
त्रिभुवन की तभी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को !

पंतजी का कवि विवश निराशा के इस चिरंतन और अनंत प्रसारित क्रंदन में आर्तनाद कर उठा। जीवन के इस विषम ज्वालामय अभाव से उसे प्रसादजी की भाँति जीवन के 'दर्शन' में कुछ आश्वासन प्राप्त होता है। कवि से वे दार्शनिक बन जाते हैं और अनुभवों का मधुर लेपन जगती के विदग्ध घावों पर करने लगते हैं—

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद।

अथवा—बिना दुख के सब सुख निस्सार
बिना आँसू के जीवन भार !

चाहे दुख का, उनकी साधना में अमर अस्तित्व हो, किंतु सुख की घृणामयी अवहेलना नहीं—दोनों का संभाव से स्नेहालिंगन ही उनका चरम साध्य है,जो मानव-जीवन के लिए परमावश्यक है। व्यक्तिगतरूपेण उनकी साधना क्रियात्मक भाव से वेदना के गहन अंतःकरण में मुकुलित नवल कमल की सौरभरूपी सत्य अनुभूति नहीं छू पाई और उनका प्रयत्न विफल अंतर-उद्गार में बिखर पड़ा—

मैं सीख न पाया अब तक
दुख को सुख से अपनाना !

किंतु महादेवीजी का कवि इस दृष्टि से सत्य साधना में अधिक सफल एवं परिपूर्ण है। व्यक्तिगत विजय की अनुभूति से उनकी साधना और भी प्रदीप्त एवं उज्ज्वल हो गई है। दार्शनिक सत्यसंधानों का अननुभूत समूहजाल न तो इतना व्यापक, न इतना प्रभविष्णु एवं न इतना स्थायी ही होता है जितना व्यक्तिगत जीवन के अमर क्षणों की दिव्य अनुभूतियों से निःसृत मधुर प्रवाह। इसके अतिरिक्त ये दार्शनिक सूत्र विपथगामी ही बनाते हैं, और अपनी निरी संख्या और परिमाण

के अतुल संभार से मानव-मन को भाराच्छन्न किया करते हैं; किन्तु व्यक्तित्व का संसार इससे कहीं अधिक विस्तृत एवं प्रकृत है। महादेवीजी की साधना में यही विशेषता है। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत वेदना के एक सजल छोर को पकड़कर सर्वात्म के चिदानंदमय विषाद के उस छोर को भी करतलगत कर लिया जहाँ उनकी व्यष्टि दिव्य समष्टि का स्वीय स्वरूप बन जाती है। इस चरम अनुभूति की परिणति में, इस परम सत्य की तदाकारता में विलीन होकर महादेवीजी क्यों न अपने 'प्रियतम' की समता करें? उस 'प्रियतम' के समग्र गुण उनमें आ गए—

उमड़ता मेरे दृगों में बरसता घनश्याम में जो;
अधर में मेरे खिला नव इन्द्रधनु अभिराम जो;
बोलता मुझमें वही जग मौन में जिसको बुलाता!

अपने ससीम व्यक्तित्व को 'प्रिय' के असीम व्यक्तित्व में लय करके उनमें कौनसा अभाव, कौनसा 'अपूर्ण' अवशेष रह गया है? फिर क्यों वे 'प्रिय' की सदय करुणा के लिए आकुल होवें! जिस भाँति 'प्रिय' की अधर-छलकती मुसकान में प्रकृति के नवल उल्लास का आवास है और जिस भाँति उसका क्षणिक विषाद चराचर की वेदना का उत्स स्थान है, उसी भाँति क्या उनके भावों की परिव्याप्ति संसृति के आवर्तन-परिवर्तन में नहीं? जीवन के चपल क्षणों के अचिर देहपिंडों पर नहीं? जीवन के अंतस्तल में निहित सत्य तो सृजनात्मक है। 'प्रिय' की सर्व-शक्ति-शालीनता की समता दिखाते हुए महादेवीजी के गर्वीले उद्गार निःसृत हो हो पड़ते हैं—

फैलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले;
बंदिनी बनकर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी-सी!

'बंधनों की स्वामिनी' बनकर कवि को क्यों न अपने निजत्व का मूल्य ज्ञात हो! 'प्रिय' के मिलन-क्षण की निलयता में उनका 'निजत्व' लय हो जायगा। समता की प्रभुता का ध्यान फिर उनके सहज मुख को ऊँचा उठा देता है—

मिलन-मंदिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं!

मुक्ति और निर्वाण का संदेश लेकर 'प्रिय' वेदना की करुण प्रतिमा पर अनुकंपा प्रदर्शन करने आये हैं, पर कवि को स्मरण है कि विरह की तप-साधना से ही 'प्रिय' का आगमन संभव हुआ है। वह इस विरह के वातावरण में ही अपने 'प्रिय' को प्राप्त कर पाया है, फिर वह कैसे अपने इस परम प्रिय सहचर का परित्याग

कर 'निर्वाण' की स्वर्गिक निधि के सम्मुख हाथ फैला दे ? इसी हृदय के परमधन विरह का विनाश करने प्रिय आये हैं। कवि का आत्म-सम्मान गढ़ गर्व से प्रतिस्पर्धा के संभ्रांत स्वर में कह उठता है—

शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन,
विरह का इतिहास कहती जो कभी पाते सुभग सुन;
चपल पग धर,
आ अचल उर
वार देते मुक्ति, खो
निर्वाण का संदेश देते !

कवि के सरल हठीलेपन को अपनी अमित ममता से 'प्रिय' मनाते हैं, किंतु वह अपना आत्माभिमान नहीं त्याग सकता। वह विरह की परम निधि की संरक्षा में अपने प्रिय की अवहेलना करने को प्रस्तुत है—

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो !
पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुम में ढूँढूँगी पीड़ा !

आराध्य के प्रति आत्मभाव-भरी निजता का इतना मधुर चित्र विश्व के साहित्य की परम चित्रोपमता अनुप्राणित चित्रावली के सम्मुख अपनी महानता का उद्घोष अपनी अमरता में चिरकाल तक करता रहेगा। हिन्दी काव्य के लिए यह परम गौरव की वस्तु है, और भारत की भारतीयता की प्रलुप्त ज्योति का जो नवावतीर्ण रूप महादेवीजी की अनंत करुणा में उद्भासित हो रहा है वह आधुनिक विश्व की मोहांधता में एक अमर आलोक का सनातन प्रकाश-स्तंभ है।

वेदना और विरह का इतना अधिव्यापक और सफल चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है—जीवन की क्षुद्र ससीमता में विरह के राजमार्ग पर चलकर उन्होंने जिस प्रशांत निःश्वास की परिधि में परम सत्य के दर्शन किये वह अनेक विरह-व्यथा के चित्रण करनेवाले वर्तमान एवं भावी कवियों के लिए दिव्य पथप्रदर्शक ध्रुवतारक है। उनके चित्रण में निराशा की संतप्त उच्छ्वासों का रौद्र तांडव नहीं, उनके अश्रुकणों

में अस्थिपंजरों की संधियों में प्रसरण करनेवाली प्रचंड वायु का-सा हाहाकार नहीं, क्योंकि—

मैं आज चुपा आई चातक,
मैं आज सुला आई कोकिल,
कंटकित मौलश्री हरसिंगार,
रोके हैं अपने श्वास शिथिल!
सोया समीर नीरव जग पर
स्मृतियों का भी मृदु भार नहीं!

कवि के अंतराल में कितनी व्यापकता एवं गहराई से अभिभूत वेदना का प्रशांत निश्वास अधिवास करता है! शारीरिकतामय शोक की नग्नक्रीड़ा नहीं, जो कि सतह की वस्तु है, वरन् आत्मा के चिरंतन उत्ताप की शाश्वत धूपमयी प्रज्वाल है। कितना संयत, संयमित और भाव परिमार्जित चित्रण है! यदि आधुनिक खड़ीबोली के काव्य में भाषा को सुकोमल, सुमधुर तथा सुसम्पन्न बनाने एवं उसके परिष्करण और परिमार्जन का श्रेय पंतजी को है तो भावना के सरस सजग संयम का, माधुर्यमयी कोमल संयतता तथा सप्रमाणता का और सुवर्णशालीनता का श्रेय महादेवीजी को है।

देवीजी के काव्य में आत्मानुभूत सत्य का दिव्यालोक केवल दर्शनशास्त्र की शुष्क उलझनों में फँसे हुए प्रकाश की तरह कोई वस्तु नहीं, साथ ही काव्यानन्द के छायालोक की स्वप्ननीहारिका भी नहीं, जहाँ कभी-कभी केवल कल्पना का प्राधान्य रहता है, वरन् उनके सत्य की पुनीत प्रभा कला के अलौकिक आनंदमय नवजीवन की प्रकाश-किरण है। वह आत्मत्याग की साधना से उपार्जित विश्वकल्याण की दीप्ति है और है जीवन तथा कला का चरम सामंजस्य। किसी ने कहा है—

'कविता पढ़ना अच्छा है। काव्यरचना करना और भी अच्छा है, पर सबसे सुंदर है काव्यमय जीवन व्यतीत करना।' अस्तु, हम कह सकते हैं कि श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य जीवनमय है और जीवन काव्यमय है। यही आत्मा का कवित्व और कला की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है, इसीसे उनकी कृतियाँ अपनी दिव्यता में पुनीत, अपनी ज्योति में शाश्वत और अपनी साधना में सनातन हैं, इसमें संदेह नहीं है।

११

रंगमंच

लेखनी से प्रसूत भावाभिव्यक्ति की समस्त प्रक्रियाओं में नाटक श्रेष्ठ है। आत्म-प्रेरित भावराशि का जितना सम्पूर्ण, जितना सचित्र एवं जितना सजीव चित्रण नाटक में हो सकता है उतना अन्य किसी व्यंजित कला में नहीं। जिस स्वरूप में तथा जिस प्रवेग से भावना और विचार का उद्वेलन हमारे आंतरिक जगत् में होता है और जिस ध्येय के लिए तथा जिस स्वरूप में हमारी आत्मा उनको आकार देने के लिए आकुल हो उठती है उन सबका परिपूर्ण अवतरण नाटक के अतिरिक्त अन्य किसी अभिव्यक्ति में नहीं हो सकता।

भावना के विकास में प्रेरणा एवं प्रतिप्रेरणा की शक्ति है। भावना में उत्पन्न होने और उत्पादन करने की एक प्रकृत उत्क्रांति है, जिसके अभाव में कला कल्पना के स्वप्न-बिन्दु की शून्य सम्पत्ति है तथा कलाकार अस्थि-मांस का एक घरौंदा-मात्र। प्रेरणा की सृष्टि-क्रिया से जो स्वरूप हमारे मानस-पट पर अंकित होता है, वह कोई स्थायी एवं ऐसी दृढ़ लकीरों से नहीं बना होता, जिनका कभी ह्रास न हो तथा जो कभी नहीं मिटे, वरन् वे जल के धरातल पर खिची क्षण-स्थायी लकीर की भाँति होती हैं, जिनका अस्तित्व एक क्षणांश का भी नहीं होता। ऐसे क्षणिक एवं सद्यःनश्वर होने वाले प्रभाव को, स्वरूप को, शाश्वत आकार देना ही कला की प्रोज्ज्वल प्रतिभा है तथा अन्य मानसों में उसका वैसा ही चित्रांकन कलाकार की कला है। इस प्रभाव का व्यक्तिकरण दो प्रकार से होता है। पहला प्रकार है हाव-भाव एवं शारीरिक चेष्टा और प्रचेष्टाओं से हृदय की भावना को प्रकट करना। दूसरा है कोई आधार लेकर चाहे वह ध्वनि का हो, रंग और काग़ज़ का हो, छेनी और पाषाण का हो या लेखनी और स्याही का हो—इन आधारों में से किसी का भी अवलंबन अपनी अन्तस्थल की भावना को प्रतिरूप देने के लिए व्यवहार में लाना। प्रत्येक प्रकार अन्तरात्मक प्रदेश की आकारहीन एवं सूक्ष्म स्थिति को अपनी सम्पूर्ण परिणति में साकार करने की चेष्टा करता है। किन्तु नाटक में भाव-प्रकाशन एवं आंतरिक चित्रण को प्रतिछवि देने की क्षमता

इन सब प्रक्रियाओं से अधिक है, क्योंकि उसमें दोनों प्रकार के उपायों का सम्मिश्रण (assimilation) है ; दोनों प्रकार की चेष्टाओं का समीकरण है । काव्य में केवल पठन से, और उस पठन पर मानसिक संचालन से ही भावमूर्ति का निर्माण हो सकता है । चित्र में केवल मूल भावनांश के ही दर्शन होते हैं—उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य भावनाओं का, जिनसे कि उस भावना का स्वरूप विकृत हो सकता है, या निखर सकता है, कोई चिह्न भी नहीं मिलता, अतः मूल भावना का स्वरूप अपनी सम्पूर्ण आभा में साकार नहीं हो पाता । क्योंकि सहकारिणी भावनाएं और विपरीत प्रतिभाव एवं विरोधमयी स्थितियाँ ही मूल भावना की परिपूर्णता उद्घोषित करती हैं, उनके अभाव में मूल भावना एक आंशिक स्वरूप ही रखती है । संगीत की बात दूसरी है, उसमें सम्पूर्ण भावना व्यंजित करने की चेष्टा की जाती है, किन्तु एक तो वह चेष्टा बहुत बड़ी ऊँची होती है, दूसरे संगीत की ध्वनि के अन्त पर उसका भी अन्त हो जाता है, अतः उसमें एक विशेष ऊँची साधना एवं ज्ञान की आवश्यकता है । दूसरे उसकी भावना नश्वर, क्षणभंगुर ही रहती है, शाश्वत नहीं हो पाती । शिल्पी की मूर्ति-कला में आधार की स्थायी सत्ता तो होती है, किन्तु चित्रकला की भाँति उसमें केवल एक ही स्थिति का मूलांकन रहता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि कला के प्रत्येक स्वरूप में भावना का आंशिक स्वरूप ही अंकित हो सकता है, परिपूर्ण कभी नहीं । नाट्य-कला ही ऐसी एक-मात्र कला है, जिसमें परिपूर्ण चित्रांकन अन्य सब प्रकाशवती कलाओं से अधिक साष्टांग एवं सानुरूप होता है । काव्य अथवा लेखन-कला और चित्रकला दोनों के मिला देने से भी अभिव्यक्ति, नाटक में प्रच्छन्न अभिव्यक्ति की समता नहीं कर सकती । चित्र को देखकर भावाभिव्यक्ति होती है, काव्य को सुनकर या पढ़कर । नाटक में दोनों बातें होती हैं—अर्थात् देखना और सुनना दोनों । किन्तु नाटक का 'देखना' चित्र के देखने से अधिक प्रभावोत्पादक होता है, क्योंकि उसमें चित्र की भाँति केवल एक ही भाव का संवेदन नहीं रहता, एक ही परिस्थिति का चित्रण नहीं रहता, किन्तु मूल अथवा केन्द्रस्थ भावना के साथ वहन करने वाली समस्त सहकारिणी भावनाएँ भी रहती हैं, जो मूल भावना के स्वरूप को अधिक भास्वर एवं परिपूर्ण बना देती हैं । नाटक का 'सुनना' भी काव्य के 'सुनने' से विशेष प्रभविष्णु एवं प्रांजल होता है, क्योंकि उसमें क्रियात्मकता एवं प्रतिक्रियात्मकता के तत्त्व रहते हैं, जिनमें स्थितियाँ अपने सभी पहलुओं के साथ प्रकाशमान हो जाती हैं । वास्तव में नाटक, संगीत, नृत्य, काव्य तथा चित्र की एक अपने निजी स्वातंत्र्य में, अपनी स्वीय मौलिकता में संयुक्त कला है—वह अपने ही में पूर्ण एवं अपनी ही भित्ति पर आरूढ ऐसी व्यंजना है, जिसमें जीवन के

अतर और बाह्य अपने सम्पूर्ण सूक्ष्म दुराव को छोड़कर प्रकृत नग्न स्वरूप में अवतरित हो जाते हैं—साकार हो जाते हैं ।

यह तो हुई नाटक में अभिव्यक्ति का परिमाण-निर्देशन या भावना-चित्रण की मात्रा के विवेचन की बात । अब उसके प्रभाव-प्रसार के ऊपर भी थोड़ा सा दृष्टिपात कर लेना अत्यावश्यक प्रतीत होता है । प्रभाव के प्रसरण की क्षमता और स्फूर्ति में भी नाटक सभी कलाओं से बढ़कर है । उसकी 'अपील' कानों और आँखों दोनों प्रकार के प्रग्राह्य (receptive) तंतुओं (sources) से प्रवेश पाती है; और ये दोनों प्रकार की प्रग्राह्य इंद्रियाँ भावना की अपील में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि होती हैं । काव्य की अपील 'श्रवण' की प्रग्राह्य तन्त्री पर झंकृत होती है । श्रवण-यंत्र के सुकुमार तारों में ध्वनि के प्रपात से एक कंपन, एक प्रचेतन-स्पंदन होता है, जिसकी झंकार हृदय और मस्तिष्क के समस्त स्नायुओं को विचलित (propell) करने लगती है और उस प्रतिध्वनि की अगणित प्रतिध्वनियाँ देह के समस्त छिद्रों में एक चेतन लहर व्याप्त कर देती हैं । काव्य के अतिरिक्त अन्य श्राव्य कलाओं की प्रभावोत्पादकता भी इसी प्राकृत शरीर-विज्ञान की नियमावली के अनुसार चलती है । संगीत, काव्य और समस्त ललित कलाएं श्राव्य की संवेदनाशील ग्रहणिका (transmutive) प्रवृत्ति पर ही भावना के प्रभाव-संचालन में क्रिया-शील रहती हैं ।

दृश्यात्मक कलाओं की भावात्मक अपील दृश्य-चेतना से सम्बन्ध रखती है । दृश्य-द्वार की झीनी यवनिका पर चित्रपट की भाँति एक आकार प्रतिबिम्बित होने लगता है जिसका प्रति-आकार स्मृति-पट पर अंकित होकर भावना के द्रव-तरल (liquidic) पदार्थ में एक विचलन पैदा कर देता है । इस तरल कंपन से ज्ञान-शिराएं और भाव-तंतु दोनों प्रकार के सूक्ष्म यंत्र स्पंदित होने लगते हैं ।

नाटक में श्राव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार की ग्राहिणी शक्ति का समावेश है, अपील के दोनों द्वार खुले हुए हैं; और सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि अपील दोनों द्वारों से आती है । दोनों प्रकार की ग्राहिणी इन्द्रियों द्वारा भावना आकर अपील की भूमि पर एकाकार हो जाती है । दृश्य-द्वार से बिंब का प्रवेश होता है, भाव का साकार-सजीव चित्र आता है और श्राव्य-द्वार से ध्वन्यात्मक चित्र, वाणी का प्रतिबिंब । दोनों का सम्मेलन, दोनों की अद्वैत एकता भावना की सजीव प्रतिमा है । एक द्वार से आलोक आता है और दूसरे से वाणी ; एक से वीणा प्रतिबिंबित होती है दूसरे से राग की ध्वनि और लय ।

अब स्पष्टतया अनुमान हो सकता है कि प्रभाव-उत्पादिनी शक्ति नाट्य-कला में कितनी मार्मिक एवं विस्तृत है । इसके अतिरिक्त नाटक का प्रभाव सर्व-

सामान्य (universal) भी है—अक्षरविहीन हृदय से लेकर अक्षर-सम्राट् हृदय पर एक ही सामान्य अपील की परिणति है। आबाल-वृद्ध सभी भावना के कंपन से विचलित हो उठते हैं। काव्य की अपील ग्रहण करने के लिए एक काफ़ी हद तक साक्षरता और शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। चित्र की मार्मिकता समझने के लिए चित्रकला के कुछ सूक्ष्म एवं स्थूल सिद्धान्त और तत्त्व जानने आवश्यक होते हैं। संगीत की भाव-भूमि पर चढ़ने के लिए तो ताल-लय, राग-रागिनी और कुछ आंतरिक भेद-अभेद सभी की अपेक्षा रहती है—नृत्य में भी यही समस्या सामने आती है। किन्तु नाटक की स्थली पर अक्षर ज्ञान और निरक्षरता दोनों का गंगा-जमुनी संगम होता है। इसके समझने, इसको अनुभव करने के लिए कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं, कुछ जानने का बोझ नहीं उठाना पड़ता है, 'उम्मेदवारी' (apprenticeship) का समय और आशा का जीवन नहीं बिताना पड़ता। उसकी अपील सीधी (direct) होती है—अभेदमयी होती है।

उपर्युक्त रूप में नाटक की क्षमता, शक्ति और प्रभाव के इस विस्तृत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अभिप्राय यह नहीं है कि नाटक के महत्त्व की महिमा गाई जावे, वरन् मेरा अभिप्राय यह है कि हिन्दी के लेखक और कवि अपनी नाटक के प्रति उपेक्षा-मनोवृत्ति पर थोड़ा-सा विचार करें; वे थोड़ा समय खर्च करके सोचें कि इतनी क्षमताशील एवं भाव-प्रकाशिनी कला आज विस्मृति के अंधे कूप में पड़ी हुई है, आज वह अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। हम हिन्दीवाले आज अपने साहित्य की सर्वांगीणता पर अपना मस्तक गौरवान्वित करते हैं, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि हम अपने अभिमान में बहुत-सी बातें भूलते जा रहे हैं—नाटक उनमें से एक है।

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का इतिहास बहुत छोटा है, क्योंकि नाटक का रचना-क्षेत्र हमारे साहित्य में एक परिमित सीमा में ही स्थित है। जिस भाँति भारतेंदु ने सबसे प्रथम हिन्दी साहित्य में नवीन-नवीन अभिव्यक्तियों का सूत्रपात किया, हिन्दी में नवीन-नवीन प्रकाश-धाराओं को जन्म दिया, उसी भाँति उन्होंने हिन्दी-नाटक की भी उत्पत्ति की। भारतेंदु हमारे साहित्य के सोलह कला-सम्पन्न 'इन्दु' हैं। आज जो भी हमारे साहित्य में हम अंकुरित, पल्लवित एवं फलित देखते हैं, वह सब भारतेंदु की ही वरद लेखनी की प्रसूति है। भारतेंदु से प्रथम हिन्दी में नाटक थे ही नहीं—हाँ, संस्कृत-नाटकों के अनुवाद लक्ष्मणसिंह के द्वारा प्रकाशित हो चुके थे। इनमें से विशेष महत्त्व 'कालिदास' को ही दिया गया था। मौलिक नाटकों की रचना नहीं हो पाई थी। अतः हिन्दी-नाट्य कला का स्वरूप कैसा होना चाहिए और क्या होना चाहिए आदि समस्याएं न तो उठी थीं और न उन पर

विचार ही हो पाया था। भारतेंदु ने इस स्वरूप पर, इस समस्या पर अपना विचार केन्द्रित किया। अनुवाद उन्होंने भी किये और वास्तव में वे बड़े सफल अनुवाद हैं, किन्तु उनका सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने वे अनुवाद उसी ढाँचे में किये, जिसमें कि भावी हिन्दी-नाटकों की रचना होनी चाहिए। सबसे पहले उन्होंने संस्कृत, बँगला और पाश्चात्य नाट्य-कला के सिद्धान्तों पर मनन किया और तीनों से ऐसे-ऐसे तत्त्व निकाल लिये, जो हिन्दी के नाटकों की शैली और भावना के अनुरूप पड़ें--इन तीनों का संश्लेषण करके भारतेंदु बाबू ने हिन्दी की नाट्य-कला का स्वरूप निर्धारित कर दिया। इसी स्वरूप में उन्होंने स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए नाटकों के अनुवाद किये और स्वतन्त्र मौलिक नाटकों की भी रचना की। भारतेंदु बाबू के नाटकों की भाव-भूमि प्रभिन्नतामयी है (stretched to various sides of life and time) तथा समय और जीवन के विस्तृत क्षेत्रों और पहलुओं तक प्रसरित है। देश-भक्ति, सामाजिक अवस्था, राजनैतिक परिस्थितियां आदि सभी समकालीन समस्याओं पर उनके नाटक दृष्टि-विक्षेप करते हैं। तत्कालीन बँगला-नाटकों तथा पाश्चात्य नाटकों या अपने ही यहाँ के संस्कृत-नाटकों की भाँति, हृदय-पक्ष की गम्भीर आलोचना, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भारतेंदु के नाटकों में नहीं हैं, किन्तु इस प्रकार के अभाव की ओर दृष्टिपात करने से प्रथम हमको यह भी देख लेना चाहिए कि भारतेंदु की नाटक-रचना हिन्दी की प्रथम नाटक-रचना है, और ऐसी रचना है जिसकी कला का सूत्रपात भी उसके साथ-साथ चलता है। दूसरे भारतेंदु के नाटक, नाटकों के स्वरूप-निदर्शन के निमित्त ही लिखे गए हैं; और साथ-ही-साथ इनका उद्देश्य यह भी है कि जनता में नाटकों के प्रति रुचि बढ़े तथा लेखकों का ध्यान इस कला की ओर आकृष्ट हो।

भारतेंदु के पश्चात् नाटक के साहित्य में कुछ दिनों तक कोई उल्लेखनीय रचना प्रसूत नहीं हुई। लाला सीताराम ने शेक्सपियर तथा कालिदास के नाटकों के अनुवाद छपवाये, जिनमें नाट्य और नाटक की आत्मा का कोई विशेष सफल अवतरण नहीं होने पाया। किन्तु 'प्रसाद' की तूलिका से नाट्यात्मक अभिव्यक्ति के सृजन होने के साथ ही हिन्दी नाटक-साहित्य में एक नवीन जागृति उपस्थित हो गई। हिन्दी के नाटक-साहित्य में प्रारंभ से लेकर अंत तक यदि कोई नाटक की प्रतिभा प्रगूढ़ दृष्टिगत होती है, तो वह प्रसादजी की भावात्मक लेखनी में। मौलिक रूप में और प्रभूत प्रतिभा के दृष्टिकोण से भी जयशंकरप्रसाद ही हिन्दी के एक-मात्र सफल एवं साहित्यिक नाटककार हैं। प्रसादजी के नाटकों की रंगभूमि भारत के अतीत की प्रतिछाया है। प्रसादजी मूलतः करुणा के चित्रकार हैं; और भावरूप में ऐसे चित्रकार हैं जो अपने वर्तमान की गति में, परिस्थिति में एवं

स्थिति में बहुत कम परिज्ञान रखते हैं, अत्यल्प मनोरंजन रखते हैं। उनकी करुणा प्रशांत, दिव्य एवं आदर-उद्रेकणी करुणा है, जो वर्तमान के अनिश्चित एवं आवर्तन-परिवर्तन के प्रयोगों में विशृंखल प्रांत में नहीं प्राप्त हो सकती। सागर के ऊपरी दृष्ट धरातल पर जो विचलन, जो प्रगति, जो चापल्यमयी परिस्थिति रहती है वही समय के वर्तमान की हुआ करती है—अतीत अतल की अचल एवं गम्भीर तह है, जो प्रसुप्त प्रचेतना की प्रशांति से आबद्ध रहती है। प्रसादजी की साधना इसी अतलस्पर्शी करुणा पर केन्द्रित है, इसीलिए उनके नाटकों की कर्मभूमि भारत की अतीत की गोद में प्रस्थित है। बौद्ध-इतिहास का जितना मार्मिक चित्रण प्रसादजी के नाटकों में हो पाया है उतना भारत की किसी भी भाषा के साहित्य में प्राप्त नहीं है। वे हमारे अतीत के भग्नावशेष में प्रसुप्त गौरव, महत्त्व और ममत्व के पुजारी (priest) 'प्रॉफेट' (prophet) हैं।

नाटक का मुख्य उद्देश्य रंगमंच पर आरूढ़ रहता है। जो अभिनय की देह में आसीन हो सके वही सफल एवं सजीव नाटक है। वास्तव में अभिनय ही नाटक का मूल ध्येय एवं मूल आत्मा है। यह कहना तो एक अविचार एवं अत्याचार ही होगा कि 'प्रसाद' जी के नाटक मंच पर नहीं खेले जा सकते, क्योंकि जहां तक मैं सोचता और समझता हूं, वहां तक तो मुझे पूरा विश्वास है कि कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने से 'प्रसाद' जी के नाटक रंगमंच पर अभिनय किये जा सकते हैं। हाँ, उतनी आसानी से नहीं, जितनी आसानी से कि एक नाटक किया जाना चाहिए। एक तो उनकी भाषा काव्य एवं कल्पना के क्लिष्ट एवं दुरूह जाल में इतनी जकड़ी रहती है कि साधारण जनता तो क्या कुछ 'असाधारण' जनता भी उद्भ्रांत होकर सिर खुजलाने लगती है। दूसरे उसी अतीत के अनुरूप शृंगार और अभिनय-सामग्री एकत्रित करने और वही वातावरण उपस्थित करने में काफ़ी धन की आवश्यकता है; फिर यह काम किसी प्राचीन इतिहास के प्रकांड पंडित से ही सम्पन्न हो सकता है, तत्कालीन वेशभूषा, रीति-रिवाज, आचार-आचरण, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां आदि का सानुरूप (exact) चित्रण करने में एक बड़े भारी मस्तिष्क की आवश्यकता है। फिर भारतीय जनता भी अपने प्राचीन इतिहास से उतनी सम्बद्ध (connected) नहीं है जितनी कि अन्य देशों की और विशेष-कर पाश्चात्य देशों की जनता अपने निज के अतीत से है। आर्य-संस्कृति की विहार-भूमि पर, अन्य संस्कृतियों के आगमन से, एक नवीन भाव-धारा ही चल पड़ी है, जो हमें अपने प्राचीन से बड़ी दूर ले भागी है। इन सभी विचारों (considerations) से 'प्रसाद'जी के नाटक अभिनीत नहीं हो सकते—वे एक आर्य-संस्कृति के प्रकांड पंडित की अपेक्षा अनुभव करते हैं।

पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इधर दो-तीन नाटक लिखे हैं, जो रंगमंच पर भी खेले जा चुके हैं। वास्तव में मिश्रजी के नाटक अभिनय की सजीव भूमि के पल्लवित वृक्ष हैं। दूसरे वे हिन्दी के सामने नाटक के स्वरूप का नमूना भी प्रस्तुत करते हैं—इसी रूपरेखा पर भारतीय नाटक बड़ी सफलता से चल सकते हैं। इस कला में मिश्रजी संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटककार 'इब्सन' (Ibsen) से प्रभावित (inspired) मालूम होते हैं।

जिस प्रकार कथा-साहित्य में उपन्यास के ऊपर कहानी का एकाधिकार होता जा रहा है, उसी प्रकार नाटक की आत्मा भी 'एकांकी नाटक' के एकाकी दायरे में संकुचित होने लगी है। कहानी और एकांकी नाटक की यह प्रधानता हमारे वर्तमान जीवन की अत्यधिक (overcrowded) संघर्षमयी परिस्थितियों के फलस्वरूप है। आज का जीवन इतना संघर्ष-निगूढ़, इतना पदार्थमय (materialistic) हो गया है कि मानव को विश्राम के इने-गिने क्षण निकालना भी दूभर हो जाता है।

आजकल विज्ञान का युग है ; प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक कला में विज्ञान ने अपने स्वेच्छाचारपूर्ण परिवर्तन किये हैं। नाटक भी इससे वंचित नहीं रह सका; और सचमुच देखा जाय तो इसने नाटक को तो पूरा निगल ही लिया है। चित्रपट की उत्पत्ति विज्ञान की ही प्रसूति है। आज चित्रपट सभ्यता के पृष्ठों पर एक मुख्य घटना है, अतः उसका संक्षिप्त विवेचन यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

हिन्दी-चित्रपट ही क्या समष्टि रूप से सभी भारतीय भाषाओं के चित्रपट की जन्म-कथा अभी प्रारंभ होती है। दस-पन्द्रह वर्षों का उनका जीवन और व्यापकता के क्षेत्र में इतनी तीव्र एवं प्रसारिणी प्रगति वास्तव में एक आश्चर्य और चिन्तन का विषय हो गया है। विज्ञान द्वारा प्रचलित सभ्यता के अंगों में चित्रपट सबसे उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। रेल, तार तथा अन्य वैज्ञानिक चमत्कारों के साथ चित्रपट भी भारतवर्ष में आया और अब जनता के जीवन की दैनिक वस्तु हो गया है।

बँगला एवं मराठी चित्रपटों में कलात्मक विकास का सुन्दर परिचय पाया जाता है, किन्तु बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी-चित्रपट कला तथा संख्या दोनों में काफी आगे बढ़े प्रतीत होते हैं। यह वास्तव में हिन्दी के सुन्दर भविष्य का परिचायक है। हिन्दी-चित्रपट की यह प्रगति राष्ट्रीय जीवन में अनेक लाभप्रद काम कर सकती है। हिन्दी-प्रचार तथा हिन्दी-संस्कार पर्याप्त रूप से अहिन्दी-प्रांतों में अपना अस्तित्व स्थापित कर सकते हैं।

प्रत्येक चित्रपट में—चाहे वह किसी भी भाषा का हो—कहानी, अभिनय, संगीत भाषा और उद्देश्य मुख्य अंग होते हैं। वास्तव में कहानी, अभिनय, संगीत और भाषा ही किसी चित्रपट के सजीव अंग हैं; इनके साथ फ़ोटोग्राफ़ी, नाद-उल्लेख एवं श्रेणी-क्रम भी आ जाते हैं, किन्तु इन सब पर एक शासक है, जो उद्देश्य के रूप में प्रत्येक चित्रपट में अपना एकाधिकार अथवा सर्वाधिकार प्रदर्शित करता प्रतीत होता है। इस उद्देश्य के ही संकेत पर कहानी, अभिनय आदि नृत्य किया करते हैं।

हिन्दी-चित्रपट की कहानी अनेक प्रकार की होती है और वास्तव में नब्बे प्रतिशत कहानियाँ तो हिन्दी कहानी-कला का उपहास करनेवाली ही होती हैं। इन कहानियों की घटनाएं तथा कथोपकथन कभी-कभी तो इतने अस्वाभाविक तथा उपहासास्पद होते हैं कि किसी भी साधारण बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति को भी उनके देखने और सुनने से लज्जा आ सकती है। इसका कारण है चित्रपट के संचालकों और दिग्दर्शकों की अभिज्ञता और हिन्दी के प्रति उनकी उपेक्षापूर्ण मनोवृत्ति। हिन्दी-साहित्य क्या है, उसका भंडार कितने अमूल्य मोतियों से परिपूर्ण है—इसका कभी वे स्वप्न में भी भूलकर विचार नहीं कर पाये हैं। ये कहानी-लेखक एक तो कहानी-कला के मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होते हैं और यदि कोई कुछ निपुण भी हो तो उनकी कहानी की आत्मा संचालकों की अज्ञान-बुद्धि पर बलिदान कर दी जाती है। प्रेमचन्दजी ने अजन्ता फ़िल्म में कहानी प्रस्तुत की और सचमुच उनकी आत्मा रो पड़ी होगी जब 'सेवासदन'-जैसे उच्चकोटि के उपन्यास का चित्रपट 'बाज़ारे-हुस्न' के नाम से जनता के सामने आया। सुदर्शनजी की अनेक कहानियों का इसी प्रकार दुरुपयोग हुआ। इसमें दोष किसका है? संचालक और दिग्दर्शक की मूर्खता तो उपहासपूर्ण है ही, किन्तु जनता की मनोवृत्ति भी लज्जाजनक है। जब तक जनता अपने अपमान का, अपनी भाषा के अपमान का, अपनी संस्कृति के अपमान का विचार न करेगी और खुले शब्दों में ऐसे चित्रपटों का बहिष्कार न कर देगी, तब तक क्या ग़रज़ पड़ी है संचालकों को कि वे अपना दृष्टिकोण बदलें। यह जनता की मनोवृत्ति का दोष है। किन्तु जनता की मनोवृत्ति बनानेवाले जनता के कवि, जनता के लेखक और जनता के साहित्य और संस्कृति के कर्णधार ही तो होते हैं। अतः मूलरूप में कर्त्तव्य पुकारता है हिन्दी-भाषा के रचनात्मक क्षेत्र में कार्य करनेवालों को, हिन्दी के आचार्यों को तथा हिन्दी और हिन्द के ज़रा भी सम्मान का विचार रखनेवालों को कि वे ऐसे फ़िल्मों की देखनेवाली जनता के विशृंखल एवं अशिष्ट मस्तिष्क के सम्मुख आदर्श कहानी, आदर्श सिद्धांत प्रस्तुत करें और उनकी इस अभद्र प्रवृत्ति को नागरिकता का स्वरूप दें। हिन्दी में एच०

जी० वेल्स हैं, बर्नार्ड शॉ हैं, गॉल्सवर्दी हैं पर वे सब चेतनाशून्य हैं, निर्जीव हैं, क्योंकि वे जनता को अपने कला-केन्द्र के प्रकाश-बिन्दु पर आकृष्ट नहीं कर पाये।

कहानी के पश्चात् दूसरी समस्या आती है भाषा की। चित्रपट जनता के मनोरंजन को अपने सामने रखता है—और यही उसका मूल उद्देश्य है। अतः स्वभावतः ही भाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसको सभी श्रेणी के मनुष्य समझ सकें। इस विषय में भी हिन्दी-चित्रपट दोषी हैं। भाषा में फ़ारसी के तत्सम शब्दों और संस्कृत के तत्सम शब्दों, दोनों का सामंजस्य रूप में ऐसा मिश्रण रहता है कि पूरे वाक्य को पूरी तरह से न तो उर्दू जानने वाले ही समझ पाते हैं और न हिन्दी जाननेवाले ही। किन्तु इसमें भी कुछ तो जनता का दोष है, कुछ संवाद-लेखकों का और काफ़ी रूप से संचालकों का। दूसरे, अभिनेता और अभिनेत्रियों का संयुक्त शब्दों का उच्चारण इतना अशुद्ध होता है कि कानों पर भारी आघात-सा पड़ता है। ये अभिनेता और अभिनेत्रियाँ या तो पूर्णतया निरक्षर-से होते हैं या कुछ उर्दू जाननेवाले; किन्तु जनता को आकृष्ट करने का तत्त्व इनमें काफ़ी रहता है, इसीलिए संचालक इनके लिए लालायित रहते हैं।

इस चित्रपट के प्रारम्भ से नाटकों का तो प्राणांत हो ही चुका, अब संगीत का भी मरण निकट है। विशुद्ध भारतीय संगीत पर विदेशी (Orchestra) बंध लगाकर कला की विमुक्त आत्मा के स्वच्छंद विचरण को कारागृह-बद्ध कर दिया गया है। दूसरे, विशुद्ध राग-रागनियों में अंग्रेज़ी के ध्वनि और नाद (tunes) फ़ारसी ग़ज़लों और क़व्वालियों के स्वर-पात मिश्रित करके भारतीय संस्कृति के आत्मगीत को कुचल दिया गया है। जनता इसको चाहती है, और धार्मिक एवं नैतिक सूत्रों की भाँति अपने जीवन के सुख-दुखमय क्षणों में गुनगुनाया करती है। किन्तु संगीत-कला का यह सर्वनाश होते देखकर भी हिन्दी-संस्कृत के हिमायती तथा संगीत-कला के उपासक प्रशांत हैं। पता नहीं यह उदासीनता संगीत-कला को पतन की किस सीमा पर ले जाकर छोड़ेगी।

अभिनय हृदय की भावनाओं एवं मानसिक विचारों को साकार करने की क्रिया है। हिन्दी-चित्रपटों में अधिकांश अभिनेता और अभिनेत्रियाँ अशिक्षित एवं अनभिज्ञ हैं कि भावनाएँ क्या वस्तु हैं। अतः सफल अभिनय की आशा करना तो एक स्वप्न ही है, एक विडम्बना है।

इन दोषों की हिमालय-जैसी श्रेणियों के साथ-साथ कुछ गुण के शिखर भी यत्र-तत्र उत्थित हुए दीख पड़ते हैं, और विशेषतः भविष्य के गर्भ में तो एक बड़े विकासमय आलोक की प्रोज्ज्वल राशि जगमगाती दृष्टिगत होती है। हिन्दी के

रचनाकारों का सहयोग तथा जनता में परिष्कृत भावनाओं की सृष्टि भारतीय चित्र-पट को, इसमें कोई संदेह नहीं है कि, एक प्रकाशमयी दिशा की ओर अग्रसर कर सकती है। आवश्यकता है प्रतिक्रिया की, प्रत्यावर्तन की, तथा हिन्दी वालों के विचारशील प्रयत्नों की।

१२

रहस्यवाद और छायावाद

भविष्य में यदि इतिहासकार वर्तमान युग के नामकरण की चेष्टा करेगा तो उसे विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। बड़ी सरलता से वर्तमान युग को 'वाद'-युग कह सकते हैं; और इसमें किसी को भी तर्क-वितर्क तथा भाव की दृष्टि से आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वर्तमान युग की सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष वस्तुओं तथा सूक्ष्म तत्त्वों पर इस 'वाद' शब्द की अमिट छाप इतनी व्यापकता एवं गहराई से लग गई है कि उसको नगण्यता में ढकेलना असम्भव प्रतीत होता है। जगत् में अनेक वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो किसी भी प्रकार की दृष्ट एवं अदृष्ट सीमाओं में परिमित तथा आबद्ध नहीं की जा सकतीं। उनको किसी सीमित पिंजरे में बन्द करना उनके हृदय को परिच्छिन्न करना है। कला और जीवन सचेतन की दो उन्मुक्त विभूतियाँ हैं: वे फूल के सौरभ की भाँति स्वच्छन्द एवं निर्झर की गति की भाँति निर्बन्ध हैं; उन पर किसी भी बाहरी नाम की अथवा स्वभाव की आरोपणा एक कठोर प्रतिबन्धना है। किन्तु वर्तमान युग का 'वाद'-परिप्लुत व्यक्ति, जीवन और कला को भी 'वाद' के चश्मे से रहित नेत्र से नहीं देख सकता। कविता जैसी विश्व-विहारिणी सूक्ष्मतम विभूति को भी उसने 'वाद' के कठघरे में क़ैद कर दिया। वर्तमान युग के कंठ से प्रसूत काव्य-वाणी इसी प्रवृत्ति से लाचार होकर 'छायावाद' के रंग से रंजित दीखती है। किन्तु यहीं तक समाप्ति नहीं है। उसे 'छाया' की चादर के साथ-साथ 'रहस्य' की परोक्ष चुनरी भी ओढ़नी पड़ी है।

इस प्रकार रहस्यवाद तथा छायावाद की परिव्याप्ति तथा वर्तमान कविता में उनकी इतनी विशद अभिव्यक्ति इस बात की आवश्यकता उपस्थित करती है कि उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं विस्तृत विवेचन किया जाय। दोनों 'वादों' का रंग, दोनों का प्राण, वर्तमान साहित्य की सौरभ में इतनी गहनता से निगूढ़ है कि बिना इनका सच्चा स्वरूप जाने तथा इनकी भावना पहचाने साहित्य के तत्त्व का परिपूर्ण रसास्वादन नहीं हो सकता। जिस भाँति गुलाब के फूल को देखे तथा सूँघे बिना उसके सौन्दर्य तथा सौरभ का महत्त्व ज्ञात नहीं हो सकता, उसी

भाँति छायावाद एवं रहस्यवाद की मूल भावना और हृदयस्थ आत्मा का सूक्ष्म आवेक्षण किये बिना छायावादी एवं रहस्यवादी कविता भी पूर्णतया अपने सम्प्रति महत्त्व में नहीं दृष्टिगत होती। उनको समझने से पहले, उनमें सिंचित प्राण-रस का पान करने से पहले, छायावाद एवं रहस्यवाद के मूल तत्त्वों का निरूपण समझना होगा; आत्मा को समझने से पहले शारीरिक चेष्टा-प्रचेष्टा पर दृष्टिपात करना होगा।

छायावाद कोई नई चीज़ नहीं है और न यह वर्तमान के गर्भ से प्रसूत कोई नया 'आश्चर्य' (wonder) ही है। प्रथम मानव के जन्म से लेकर आज तक इसका ऐसा ही प्रभुत्व एवं अस्तित्व रहा है जैसा कि आजकल है। अन्तर केवल इतना ही है कि आज इसका नाम छायावाद है और आज से पूर्व कुछ और था। जिस समय प्रथम मानव ने मुसकाते हुए सुमन में, लजाती हुई कली में, कलकल करती निर्झरिणी में अपने ही प्राणों-जैसी कोई प्राण-छाया धूम्रावरण ओढ़े देखी, उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। जिस समय क्रौंच पक्षी की मर्म-वेदना का आघात आदि-कवि वाल्मीकि को बेसुध कर गया, जिस समय उस पक्षी की पीड़ा को आदि-कवि ने उसी रूप में अनुभव किया जिस रूप में उस पक्षी के प्राणों ने किया था, उसी समय छायावाद की निर्झरिणी आलोड़ित हो उठी थी। छायावाद का सम्बन्ध भाव-जगत् से है, हृदय की भूमि से है। भावलोक की सत्ता जिस प्रकार केवल अनुभव की ही वस्तु है, केवल हृदय से जानने की ही वस्तु है, उसी प्रकार छायावाद भी अनुभव करने की तथा हृदय की पंखड़ियों पर तोलने की चीज़ है।

जिस प्रकार हम प्राणधारियों में एक ही प्राण का प्रवेग एक हृदय से लेकर दूसरे हृदय तक, एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक लहराता है, उसी भाँति सारी दृष्ट प्रकृति एक ही प्राण की अभिन्न लहर से ओत-प्रोत है। उपवन की सुकुमार कली से लेकर विजन वन की कठोर झाड़ी तक एक ही प्राण-प्रवाह की हिलोर आती जाती है, एक ही जीवन-वारि से सब सजल हैं, एक ही आतरिक सूक्ष्म तत्त्व से अनुप्राणित हैं। प्रकृति में व्याप्त यह प्राण-तरंग और प्राणधारियों में सिंचित प्राण-ऊर्मि दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं, वरन् एक ही सागर के जल की वीचियाँ है। वह सागर है उस 'महापुरुष' के 'महाप्राण' का अनन्त प्लावन। अतः यदि प्राणधारी प्रकृति में अपने प्राणों की धूमिल छाया देखे अथवा प्रकृति प्राणधारियों में अपने प्राणों की झिलमिल झांकी पावे तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं। आत्मीयता हर जगह और हर अवस्था में गतिशील रहती है। आत्मीय के प्रति ममत्व का भाव चेतन तो चेतन, जड़-पदार्थों में भी निराकृत नहीं हो सकता।

स्वाभाविक रूप से यों तो एक मानव की समस्त मानव-समाज के प्रति आत्मीयता होती है, एक पशु की समस्त पशु-जगत् के प्रति ममता होती है; हाँ, कभी-कभी जब स्वाभाविक रूप से मनुष्य अस्वाभाविक रूप धारण कर लेता है, तो अनात्मीयता का विकट तांडव भी होने लगता है। किन्तु मानव के जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी आते हैं जब उसका अस्तित्व अपनी मानवीय सीमा का अतिक्रमण करने लगता है। उस समय मानव की ससीम आत्मानुभूति मुक्त होकर समस्त विश्व के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने लगती है। अपने घरौंदे से उठकर मनुष्य की भावानुभूति सूक्ष्म 'ईथर' (Ether) की भाँति प्रकृति के कण-कण से स्नेहालिंगन करने लगती है। उस समय आत्मा अपना ही चित्र, अपना ही 'स्व' (self) प्रत्येक स्थल पर देखती है। इस समत्व आत्मीय क्षण में परिचय करनेवाली अनुभूति और सम्बन्ध जोड़नेवाली चेतना दोनों ही अपना अस्तित्व भूल जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं। केवल रह जाती है एक ही सत्ता, या तो हम या हमारे से सम्बन्धित पदार्थ—दोनों एक-दूसरे में निगूढ़ और एकात्म—पूर्णतया अभिन्न! अनजाने फिर अधरों से एक निर्झरिणी बह पड़ती है—

कहीं से आई हूँ कुछ भूल!
किसी अश्रुमय घन का हूँ कन
टूटी स्वर-लहरी की कम्पन
या ठुकराया गिरा धूलि में
हूँ मैं नभ का फूल!

—महादेवी वर्मा

अपने ही अश्रुमय जीवन का 'घन' के जीवन में आभास, अपने ही विश्रृंखल मन का 'टूटी स्वर-लहरी' में साकार चित्र और अपने ही विजन अस्तित्व का 'नभ के ठुकराए, गिरे' शरीर में एकात्म-रूप—कितनी करुण समता की झलक है। यही समता आगे चलकर समता के द्वैत को छोड़कर ऐक्य का अद्वैत हो जाती है—

जब अपनी निश्वासों से
तारे पिघलातीं रातें,
गिन-गिन धरता था यह मन
उनके आँसू की पाँतें।
घिर कर अविरल मेघों से
जब नभ-मंडल झुक जाता,
अज्ञात वेदनाओं से
मेरा मानस भर आता।

गर्जन के द्रुत तालों पर
चपला का बेसुध नर्तन ;
मेरे मन बाल शिखी में
संगीत मधुर जाता बन।

—महादेवी वर्मा

यही छायावाद का सजीव चित्रण है। जब हमारी आत्मा अपने हृदय की व्यापक भावानुभूति में समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ने लगती है, जब हमारा हृदय अपनी रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिमित हो जाता है कि अपनी भाव-सत्ता से समस्त जड़-चेतन पदार्थों को अपना बना लेता है—उस समय की परिपूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो प्रतिमा निर्मित होगी, हमारे स्वर से जो रागिनी क्रिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भाव-व्यंजना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी—वह छायावाद के ही प्राण से अनुप्राणित, उसकी ही गति से गतिशील तथा उसके ही रंग में रंगी होगी।

हमारे धार्मिक शास्त्रों में उपदेशों की ऐसी लड़ियाँ बिखरी हुई हैं जिनमें समता का प्रबोधन है, प्राणि-मात्र को समान और अपने समान समझने की शिक्षा है। हमारे महापुरुष, हमारे महात्मा अपनी आत्मीयता समस्त विश्व में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रसारित किया करते हैं। किन्तु इसमें पूर्वनिर्देशित छायावाद की छाया का भी भ्रम न होना चाहिए। ठीक है, इसको भी समता-सम्य-न्याय से छायावाद कह सकते हैं, किन्तु विशुद्ध छायावाद और विशेषत: काव्य का छायावाद इस प्रबोधन के छायावाद से एक दूसरी ही चीज़ है। विशुद्ध छायावाद का सम्बन्ध भावलोक से है; वह अनुभूति के पंखों से भाव-जगत् पर उड़ता है। उसमें चेतना तथा तर्कना के लिए कोई स्थान नहीं। इसके प्रतिकूल प्रबोधन अथवा ज्ञान का छायावाद या तो पूर्णतया तर्क की वस्तु है, या केवल साधन करने की ही साधना है। ज्ञान का छायावाद आचार का विषय है, दर्शन का परिणाम है और भावना का छायावाद अनुभूति का, भावात्मक प्रतीति का। अत: दोनों में भ्रम हो जाना आश्चर्य नहीं।

छायावाद की परिधि के पार की वस्तु रहस्यवाद है। छायावाद यदि किसी मकान के द्वार की देहरी है तो रहस्यवाद उस मकान के भीतर का अंतर्पट। छायावाद यदि 'गोपद-सिंधु' है तो रहस्यवाद उससे आगे का अगम सिंधु। छायावाद में कुछ झिलमिल 'अस्ति' का भाव है, एक छाया है, किन्तु रहस्यवाद में एक 'शून्य' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। 'शून्य' कहना ज़रा कुछ उसके महत्त्व को

न्यून-सा करना है—उसे वह 'शून्य' कह सकते हैं, जहाँ 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों भाव एक हो जाते हैं। छायावाद प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में अपने ही प्राणों के समान एक प्राण-चेतना अभिभूत देखता है और अपनी आत्मीयता की बाँहें बढ़ाकर उसे अपना बना लेता है, उसमें अपने को तथा अपने में उसको देखने लगता है, किन्तु रहस्यवाद इससे भी आगे बढ़ जाता है। वह समस्त प्रकृति में अपने प्राणों की प्रवेग पयस्विनी न देखकर उस पयस्विनी के निर्माणकर्ता एवं नियन्त्रणकर्ता की पुनीत प्रतिमा देखता है। वह प्राण को न देखकर प्राण के प्रणेता पर अपनी प्रतीति निगूढ़ करता है। फूल की मोहक मादकता में उस अदृष्ट शक्ति की तन्मयता, बादल के गंभीर घोष में उसके आक्रोश का प्रतिबिंब, उषा के सौन्दर्य में उसका अनंत सौन्दर्य तथा लहरों के सजल गान में उसका ही मुखर—सब रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ हैं। रहस्यवाद में इस समग्र जड़-चेतन की अनुरूप-प्रतिरूपता नहीं है, वरन् इससे ऊपरी सतह की चीज़ है—वह है प्रतिरूपता पर निरन्तर शासन एवं प्रतिशासन करनेवाली एक रहस्यमयी सत्ता की आभा, विश्व-प्राण की अपेक्षा विश्वेश्वर के महाप्राण की दिव्य झलक। वास्तव में मोटे तौर से ये तीन सोपान हैं, जिसके आगे प्राणी का निश्चित गंतव्य है—साधारण प्राण से विश्व-प्राण, और विश्व-प्राण से महाप्राण। सूक्ष्म भावना के दृष्टिकोण से हम सम्पूर्ण चराचर विश्व को इन्हीं तीन सोपानों के अनुसार तीन विभिन्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहला भाग तो वह जो साधारण सतह ही पर रहता है, अर्थात् स्वप्राण की ही साधना में रत रहता है, दूसरा भाग वह जो विश्व-प्राण की अनुभूति में समस्त जगत् से सचेतन सम्बन्ध जोड़ता रहता है और तीसरा भाग वह है जो इन दोनों सीढ़ियों को पारकर 'महाप्राण' की सीढ़ी पर आरूढ़ हो जाता है।

रहस्यवाद की सत्ता काव्य में भी है और दर्शन में भी। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम-स्रोत हृदय है। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उसका उच्छ्वसित-उत्स मस्तिष्क है। दोनों का अपना-अपना स्वरूप है और साधना की दृष्टि से अपना-अपना महत्त्व है। दोनों में इतना ही अंतर है जितना एक नियमित और निश्चित सड़क में और नदी के वक्ष पर चलती हुई नौका के पथ में। एक के आसपास सुनसान निर्जन है और दूसरे के सुमधुर संगीत की ध्वनि। यदि साहित्यिक नामकरण ही किया जाय तो हम एक पथ को निर्गुण पथ कह सकते हैं और दूसरे को सगुण। एक में चेतना का शून्य व्याप्त है, दूसरे में भावना की सौरभ। ज्ञान के रहस्यवाद के मूल में संसार की अनित्यता की उदासीनता, माया की छलना से भय, तथा ज्ञान-चिन्तना आदि मुख्य तत्त्व हैं, जिनके प्रतिक्रियास्वरूप रहस्यवाद की उद्भावना होती है। भावना का रहस्यवाद

भी अपने प्राणों में तीन उपादान लेकर चलता है—पहला मानव-प्रेम, दूसरा आश्चर्य का भाव और तीसरा आत्मा की परमात्मा से विरह-अनुभूति। मानव-प्रेम के स्थान पर चेतन-प्रेम कहें तो अधिक उत्तम होगा। गोस्वामी तुलसीदासजी का रहस्यवाद इसी भाँति का था; उनकी 'सियाराममय सब जग जानी' चौपाई में इसी मानव-प्रेम से अभिषिक्त रहस्य की भावना है। कबीर में भी थोड़ा इसका आभास पाया जाता है। दूसरा स्वरूप इस भावनामूलक रहस्यवाद का है आश्चर्य की भावानुभूति। ऐसी अनुभूति के समय कवि की दशा एक अबोध बालक की-सी हो जाती है। ऋग्वेद की ऋचाओं में, गीता के विराट् स्वरूप-प्रदर्शन में तथा कबीर की उल्टवासियों में इसी रहस्यवाद का स्वरूप निहित है। अपनी विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी ने इसका कितना सुन्दर चित्र खींचा है—

केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मन-हि-मन रहिए।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटे न मरइ भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी आश्चर्य के भाव का बड़ा ही सुन्दर एवं रहस्यवादात्मक काव्यमय भाव-चित्र अंकित किया है—

शून्य नभ में उमड़ जब दुखभार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी;
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?

आश्चर्य के भाव के अतिरिक्त एक भाव और रहस्यवादी कविता का जन्मदाता है—वह है आत्मा की परमात्मा से विरह-भावना। सर्वभूत-आत्मा उस महान् आत्मा का ही एक परिच्छिन्न अंश है। इसको उससे बिछुड़े हुए कल्प बीत गए—कई चन्द्र उदय होकर डूब गए, किन्तु 'महामिलन' का क्षण अभी नहीं आया। आत्मा इसी 'महाविरह' में क्रंदन कर उठती है—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा मिलन के।

—प्रसाद

इसी आध्यात्मिक विरह की विदग्धता में जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। कोमल-करुण भावना अधरों से निर्झर की भाँति निसृत हो पड़ती है—

नहीं अब गाया जाता देव
थकी उँगली, ढीले हैं तार
विश्व-वीणा में अपनी आज
मिला लो मेरी भी झनकार।

—महादेवी वर्मा

सारांशत: रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक 'महा-अस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।

१३

छायावाद की व्यापकता

आजि ए प्रभाते सहसा केनरे
पथहारा रवि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिए
आमार प्राणेर पर
बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा !

—रवीन्द्र

रीति-काल की बाह्य-सौन्दर्य-प्रधानता, अभिसारिका-मुग्धा-नायिकाओं की अनेकात्मकता तथा उनके बाह्य-शृंगार, अंगराग, केश-कलाप आदि से उत्पन्न उद्दाम शारीरिक वासना से भक्ति-काल की मुरली-माधुरी की पवित्रता और मर्यादित-जीवन की सदाचारिता पंकिलता की गोद में शयित हो गई। कबीर की सान्त-अनंत-मिलन की साधना से प्रफुल्ल हिन्दी-काव्योपवन विलासिता की श्यामलता में एक अन्धकार-ग्रस्त कन्दरा बन गया। तुलसी की कला से संजीवित तथा सूर की अनन्य-हृदयता से निर्मल कविता-कामिनी का सहज-सुन्दर शरीर बनावटीपन (artificiality) से जकड़ दिया गया।

इसी अन्धकारमय क्षितिज पर सहसा एक निर्मल-ज्योति की प्रभा अवतरित हुई। कविता-सुन्दरी अपने बन्धनों से मुक्त होकर इस 'आंधार सलिले' में जीवन की, परिवर्तन की, तथा प्रतिभा की एक ज्योति-किरण लेकर आई। उसमें अतीत का हास-रुदन था, वर्तमान का उत्थान-पतन था और था भविष्य के प्रति एक प्रकाश-मय सन्देश। जीवन-सी स्वच्छन्द तथा आत्मा-सी निर्लेप यह किरण उदित हुई थी, किन्तु पार्थिव-अस्तित्व में रहकर वह निर्लिप्त नहीं रह सकी, वह भी 'छाया-वाद' नाम के बन्धन में बंध गई। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रग-रग में इसी

'छायावाद' नाम की जीवन-ज्योति का उदात्त प्रवाह है; इसी क्रान्तिशील किरण का मधुर प्रकाश है।

छायावाद की कविता हमारे आसपास के संसार की इतिवृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करती है। इतिवृत्तात्मकता कविता की सामग्री नहीं, वह कविता की अपेक्षा विज्ञान के अधिक समीप पड़ती है। इसी प्रकार जीवन-स्पर्शिता विज्ञान का प्राण नहीं, वह भाव के सुरम्य देश की ही निवासिनी है। इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य-सौन्दर्य से है, आन्तरिक तथा सूक्ष्म के सौंदर्य से नहीं। इसी के विपरीत 'छायावाद' का सम्बन्ध आन्तरिक सौन्दर्य तथा सूक्ष्म आत्मा से है। बाह्य-सौन्दर्य-साधनावाला कवि एक फूल के सर्वांग का ही वर्णन करेगा, किन्तु जीवन का छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनायेगा, जो उसकी आत्मीयता तथा उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है।

छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग स्थापित करने की साधना करता है। यही कला के रहस्य की खोज है, उसका स्पष्ट उद्घाटन है। इस स्थिति पर पहुँचकर कवि अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत् के संगीत सुनने लगता है। यह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषादपूर्ण, परन्तु सदा नवीन ही बना रहता है। संसार का कण कण इसी स्वर-लहरी के मधुर पाश में परस्पर बँधा है; किन्तु हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और उस चैतन्य के बीच, एक गहरा आवरण पड़ा हुआ है, जिससे हम उसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने इस सूक्ष्म का रहस्योद्घाटन किया; उनकी हृत्तन्त्री बरबस झंकृत हो उठी—

हृदय तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें ?
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें !
हृदय तू बना है जलनिधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमें !
मिला अब कौन-सा नवरत्न, जो पहले न था तुझमें ?

कण-कण में अनुप्राणित रागिनी की स्वर-लहरी एक बार रवीन्द्र के अन्तस्थल में गूँज उठी थी। भोला कवि इस रहस्य को नहीं समझ सका। वह अपने हृदय की ओर मुड़कर प्रश्न करता है—

बाजिछो काहार बीना मधुर स्वरे !
आमार जीवन निभृत परे

जागि उठे सब शोभा सब मधुरी,
पुलक-पुलक हिय मुदित तरी !

आधुनिक जगत् बुद्धिवाद तथा भौतिकवाद का उपासक है। भौतिकता मनुष्य की अभिवृद्धि कर सकती है, विकास नहीं कर सकती। आज मानवात्मा संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, अविकसित अवस्था में पड़ी हुई है। इस समय उसको यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है, जो उसे अतुल शक्ति से सम्पन्न कर बाह्य-प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करने को कटिबद्ध कर दे। इस समय मानव-जीवन अपने बाह्य क्षेत्रों और विभागों को संगठित एवं असीमित कर अपने आंतरिक जीवन से उदासीन होता जा रहा है; इतिवृत्त का उपासक बनकर मानव अपनी आत्मा का एक नवीन कारा निर्मित कर रहा है। छायावादी कवि अपने अस्तित्व का बलिदान इसी उदासीनता के विनाश तथा कारा के परिवर्तन की वेदी पर कर देता है। वह विज्ञान की बाह्य सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव-समाज को आंतरिक जीवन दिखलाने का प्रयत्न करता है। अपनी अन्तर्दृष्टि से वह जग-जीवन के मर्म में प्रवेश करता है और अपनी आत्मा की साधना से अन्तर्जीवन का ज्योतिर्मय चित्र प्राप्त करने में सफल होता है। इसी को वह मधुर स्वरूप देकर, स्वर-लहरी की माधुरी से परिप्लावित कर पथभ्रान्त, विवश, परिश्रान्त मानवात्मा के सम्मुख रख देता है—

सर में जीवन है, इससे ही
वह लहराता रहता प्रतिपल,
सरिता में जीवन, इससे ही
वह गाती जाती है 'कल-कल' !—बच्चन

उपर्युक्त विवेचना से कदाचित् रहस्यवाद को ही छायावाद समझने का भ्रम हो सकता है। वास्तव में दोनों एक दूसरे के इतने निकट और एक दूसरे के इतने समान हैं कि बिना दोनों के बीच एक विभाजक रेखा बनाये उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत् हैं, उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीनपूर्ण आध्यात्मिक है। छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है; वह केवल आत्मा और जगत् के ही प्रदेश में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार matter of fact के आगे की चीज़ छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज़ रहस्यवाद है। छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर

जब हम उसे अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं, तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किन्तु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतन का विकास या आभास पाते हैं, तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी)। यही रहस्यवाद और छायावाद का एक छोटा-सा अन्तर है। फूल और कलियों में रहस्यवादी जीवन का कम्पन नहीं, किन्तु अपने प्रियतम की रूप-माधुरी देखता है—

सुमन में तेरा मधुर विकास
कली में नव-नव अस्फुट हास।

इन्हीं सुमन और कलिका को छायावादी कवि आत्मा की समान लहर से अनुप्राणित पाकर सप्राण समझ लेता है। वह उनसे मधुरालाप करने लगता है। निर्जीव को सजीव बनाकर उसी का आलिंगन-पाश माँगता है—

गाओ, गाओ कुसुम-बालिके!
तरुवर से मृदु मंगल-गान,
मैं छाया में बैठ, तुम्हारे
कोमल-स्वर में कर लूँ स्नान!
हाँ सखि! आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले, जुड़ा लें प्राण!—पंत

आधुनिक हिन्दी-काव्योपवन छायावाद के काव्य की मलय-पराग, उसकी कलिकाओं के हास-विलास तथा सुधा-स्रावणी पंचम-तान से इस प्रकार आप्लावित है कि उसमें अन्य प्रकार के कलित-कूजन का कोई अपना स्वच्छंद अस्तित्व ही नहीं रह गया है। जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करती हुई, प्रकृति तथा दृश्य-जगत् के सभी उपकरणों को प्रणय-पाश में बाँधती हुई तथा भावों के सभी तारों से माधुरी स्रोत बिखेरती हुई छायावाद की कविता कण-कण के साथ अपना जीवन-सम्बन्ध स्थापित कर रही है। अतः उसकी प्रगति का एक सवाक् चलचित्र खींचने के लिए आवश्यक है कि उसके भावों के विषयों पर सरसरी दृष्टि से विचार करें।

सौंदर्य—

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, यह मन के भीतर की वस्तु है। इसकी पूर्णता के लिए अंतःसत्ता की तदाकार-परिणति की आवश्यकता है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। सौन्दर्य काव्य का एक प्रधान उपकरण है। छायावाद के काव्य में भी सौन्दर्य अपनी पूर्ण कला में उदित हुआ है। सौन्दर्योपासक कवियों ने सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'नारी' जाति को नाना रंगों के

आवरण पहना उसे अनेक कोणों से देखा है। पाश्चात्य साहित्य में चित्रित Neo-Platonic सौन्दर्य-चित्रों की मात्रा हमारे काव्य-कानन में भी उद्भासित हुई। अँग्रेज़ी का सुप्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि शेली (Shelley) अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करने के पहले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष समझता था। उसकी सम्मति में जो ज्ञानलोक सुन्दर और अमर है, उसकी क्षणिक आभा नारी में दिखाई देती है। मानवात्मा नारी रूप की उपासना कर ही, क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य के दर्शन करने में सफल-मनोरथ हो सकती है। शेली के 'प्रोमीथियस' के लिए 'Asia' उसके जीवन का आलोक एवं अदृश्य सौन्दर्य की छाया है—

Asia thou light of life,
Shadow of beauty unbeheld;

इसी की प्रतिमूर्तिमय भावना से पूर्ण सौन्दर्य-चित्र छायावाद के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत की तूलिका से चित्रित हुआ है। कवि की प्रेयसी कवि की आत्मा को प्रकाशित करनेवाली ज्योति है। वह पार्थिवता का आभूषण नहीं, किन्तु प्रकृति की दुलारी नैसर्गिक रूप की रानी है—

अरुण अधरों का पल्लव-प्रात मोतियों-सा हिलता हिम-हास;
इन्द्रधनुषी-पट से ढक गात बाल-विद्युत का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अङ्गों का मधु मास;
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

पंतजी का उपरि-लिखित कवितांश पथ-भ्रांत नवयुवक छायावादी कवियों के आदर्श-रूप में रखने के योग्य है। यदि मानव का हृदय वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन करना चाहे तो वह इस भौतिकता से परिपूर्ण विश्व के कोलाहल से दूर प्रकृति की शृंगार-शाला में जाय। George Whither इसी प्रकार अपनी प्रियतमा को प्रकृति-प्रदत्त आभूषणों से सुशोभित कर वासना-लोलुप कवि-समुदाय के सामने लाये थे—

Her cheeks were like the cherry,
Her skin was white as snow.
When she was blithe and merry
She angel-like did show.

पंतजी ने 'चाँदनी', 'छाया', 'वीचिविलास', 'अप्सरा' इत्यादि कविताओं में नारी-सौन्दर्य की कल्पना तो की है, किन्तु वह उतनी सजीव, सर्वांग तथा स्पन्दन-शील नहीं हो सकी, जितनी 'निराला' जी की 'शरत्-पूर्णिमा की बिदाई', 'संध्या-

सुन्दरी', 'कविता', 'शेफालिका' और 'जूही की कली' में हो गई है। इन कविताओं में कवि, पंतजी के समान किसी नारी का प्रतिबिम्ब नहीं देखता, वरन् कविता को ही नारी समझ लेता है—

शिलाखंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था—
मुक्त बन्ध संध्या-समीर-सुन्दरी-संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्कराता था;
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू-छू कर—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मार बड़े प्यार से इठलाते थे।

इन सौन्दर्य-चित्रों में न तो कामुकता का विकार-चित्र है, और न उद्दीपन की दृष्टि से किया हुआ काव्य-परम्परा-प्रणाली के अनुमोदन का प्रयास। उनमें जीवन है, आंतरिक व सौन्दर्य की स्पन्दनशीलता है, किन्तु अभी काव्य-साधना की वह प्रस्फुटित ज्योति नहीं, जो अपनी प्रेयसी के प्रति कवि-हृदय से कहला लेती है—

तुमि मोर जीवन-मरण
बांधिया छो दु-टि बाहु दिया। —रवीन्द्र

और न अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे परिपूर्ण होकर कवि अपनी प्रेयसी को अपने ही आनंद के स्वर्गीय प्रकाश से समावेष्टित देखता है—

Thou art folded, thou art lying,
In the light which is undying
Of thine own joy, and heaven's smile divine.
—शेली

छायावाद के काव्य में नारी-सौन्दर्य के कलात्मक तथा संयमित चित्र के अतिरिक्त पंकिल चित्र भी हैं। ऐसे चित्रकारों को 'रवीन्द्र' की 'उर्वशी' नाम्नी कविता की पंक्तियाँ पढ़ लेनी चाहिएं। 'उर्वशी' में 'वीरांगना-सौन्दर्य' का चित्र खींचा है, किन्तु तो भी वह कितना निर्मल एवं संयमित है। साथ ही उनको जर्मन दार्शनिक 'कैन्ट' की निम्नांकित सौन्दर्य की परिभाषा भी हृदय में धारण कर लेनी चाहिए—

Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and practical advantages, pleases and in its objective meaning it is a form of an object suitable for its purpose in so far

as that object is perceived without any conception of utility.

नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शिशु-सौन्दर्य भी कवियों की तूलिका का विषय रहा है। शेक्सपियर का 'आर्थर' जो निर्दय वधिक के हृदय में भी पवित्र स्नेह का सचार कर देता है, तथा कालिदास का 'सर्वदमन' जो दुष्यंत के निराश-हृदय में आशा का प्रकाश फैला देता है—शिशु-सौन्दर्य की अद्वितीय प्रतिमाएँ हैं। सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम-विषयक शिशु-सौन्दर्य-चित्र छायावाद के अंचल में नहीं आये। अकेले पंत में ही इसकी कुछ झलक देखते हैं, किन्तु वह क्षीण-सी, नहीं के बराबर ही है।

प्रेम—

सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। किन्तु सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एव संकोच होगा, उसी प्रकार प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियाँ होंगी। आधुनिक छायावाद के काव्य में नवयुवक कवियों की चचल तूलिका प्रेम के जो चित्र अंकित कर रही है, वे वास्तविक प्रेम के नहीं, किन्तु उद्दाम शारीरिक वासना के अशांत नग्न-चित्र हैं। उनका अपना नया आदर्श है—'अतृप्ति कवि का जीवन-संगीत है। कोई प्रेम करके शांति चाहे तो मनुष्य-जीवन, प्रेम और शांति ये तीनों चीज़ें साथ नहीं रह सकतीं।' किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह प्रेम नहीं, वासना का प्रचड ताण्डव है, मोह का पंकिल क्षेत्र है। प्रेम जीवन की मूल प्रेरक-शक्ति है। प्राणी की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। जैसा कि ऊपर वर्णित हो चुका, सौन्दर्य की भावना पर ही प्रेम का आधार है। अत: सौन्दर्य की भावना कलुषित हो जाने पर प्रेम की भावना भी कलुषित हो गई है। इस स्थल पर सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक भाव (Idea) स्थिर कर देना विशेष उपयुक्त होगा, जिसके प्रकाश में नवयुवक कवि अपनी मोह-वासना-पूरित अधकार-कारा से मुक्त हो जायं—

The deeper the mind penetrates into the facts of aesthetics, the more they are perceived to be based upon an ideal identity between the mind itself and things. At a certain point the harmony becomes complete and the finality so close that it gives us actual emotions. The beautiful then becomes sublime, and for a passing flash, the soul rises into the true mystic state and touches the 'Absolute.' —*E. Recijac*

ऐसे सौन्दर्य की भावना ही प्रेम की उत्कृष्ट भावना का प्रत्यक्ष कारण है। सान्निध्य की ऐसी ही अवस्था का निर्देश 'वर्ड्सवर्थ' निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार करता है—

Ah ! then if mine had been the painter's hand,
To express what then I saw, and add the gleam,
The light that never was, on sea or land,
The consecration, and the poet's dream.

छायावाद के काव्य में प्रेम के कुछ ऐसे निर्मल चित्र भी हैं, जो ससार के किसी भी प्रेम-चित्र से समानता स्थापित करने के योग्य हैं। कवि ने अपने आपको प्रेमिका के योग्य उपासक बनाने के लिए, प्रेम की आंतरिक जलन में रक्त-मांस के विकारों को जला दिया है—

जो कुछ कालिमा भरी है इस रक्त-मांस में मेरे ;
यह जलन जला देगी जब मैं योग्य बनूंगा तेरे।

प्रेम की पवित्रता पर एक बार वासना का अधिकार हो चला था। कवि का भोला हृदय पीड़ित हो गया—

कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज, हाय, क्या गंगा-जल की धार !

प्रेम के शान्त धवल प्रदेश पर उद्दाम शारीरिक आकर्षण, अशान्ति, उद्वेग-पूर्ण वासना का आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से परिलुप्त हो जाता है, एक करुण-क्रंदन उसकी निःश्वासों पर चढ़कर वायु में मिल जाता है—

प्रणय की महिमा का मधु-मोद; नवल सुषमा का सरल विनोद।
विश्व-गरिमा का जो था सार; हुआ वह लघिमा का व्यापार॥

—'प्रसाद'

नवयुवक सुकुमार कवि के हृदय में अज्ञात पर प्रेम की तीव्र अनुभूति की उद्भावना हुई; भावावेश में कवि अपने को सम्भाल नहीं सकता, वह मूक होकर अपने हृदय में इधर-उधर टटोलने लगा—

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ! एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति !

× × ×

कौन हो तुम उर के भीतर बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ? —पत

इसी आत्मानुभूति की तीव्रता में भावों के प्रसून कवि के हृदय से बिखर पड़ते हैं—

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन-सा हिल कर अविरल शीतलता सरसाने दो ;
अपने मुख से जग-चिन्ता के श्रम-कन सदय सुखाने दो।

प्रेम का पागल कवि अपनी प्रेमिका को इसी प्रकार बुलाता है—

तूमि रवे नीरवे हृदय मम
निविड़ निभृत पूर्णिमा-निशीथिनी सम।
मम जीवन यौवन
मम अखिल भुवन,
तूमि भरिबे गौरवे निशीथिनी सम।
जागिबे एकाकी
तव करुन आँखि
तब अंचल-छाया मोरे रहिबे टाकि।
मन दुःख वंदन
मम सकल स्वपन,
तूमि भरिबे सौरभ निशीथिनी सम।

—रवीन्द्र

कितनी व्यापकता है इस प्रेम में ! कितनी श्रद्धा और विश्वास है !

पंतजी की निम्नांकित पंक्तियों में प्रेम का ऐसा ही सुन्दर पावन चित्र मिलता है—

जब मेरा चिर-संचित प्यार
मुझे डुबाता है गंभीर;
द्रोह-मदन, मद का मल मेरा धो देता है जब दृग-नीर !
तब मेरे सुख का अनुमान, क्या तू कर सकती है प्राण !

वेदना और विषाद—

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts.

—शेली

वेदना जीवन की मूल रागिनी है। सदैव से ही कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी वेदना से सिंचित रही है। क्रौंचपक्षी की अंतस्तल की करुण निःश्वास से वेदना-विह्वल होकर आदि-कवि ने प्रथम कविता-कामिनी को पार्थिव संसार में अवतीर्ण किया था। यूरोप के मनीषी-कवि 'दांते' की प्रेयसी इस अनंत रूपात्मक संसार को छोड़कर उस अनंत लोक की निवासिनी बन गई, उसी क्षण से 'दांते' की

आत्मा कविता का सवाक् चित्र बन गई। उसने आहों की भीषण प्रज्वलन से आहत होकर यूरोप के काव्य-साहित्य में भीषण बवंडर स्थापित कर दिया। सारा यूरोप अपनी सजल नेत्रों की छलछल में तथा अतल-स्पर्शी निःश्वासों में कहता था—'Whitis ! you are in Elysium ! But restore me myself and my soul.' संसार के अद्वितीय उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो का चरित्र-चित्रण हृदय में एक क्रांति-सी, एक मधुर टीस-सी, क्यों मचाने लगता है ? कारण वही कि ह्यूगो ने मानव जीवन में प्रवाहित एक अलक्षित वीणा की स्वर-लहरी को प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान किया है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावाद-धारा की कलकल-ध्वनि में भी वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत मिला हुआ है, जो अबाध गति से मानवात्मा की करुण-वृत्ति में जागृति का कम्पन भर रहा है; एक मधुर स्पन्दन उत्पन्न कर रहा है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि का हृदय भग्न होकर कैसी तान उससे निकालता है—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय रो!

—पंत

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से विश्रृंखल कवि के हृदय की वीणा सिसकियों की ध्वनि में झंकृत हो उठती है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके ;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके ।
क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं !

—निराला

इसी प्रकार की करुण सिसकियों में 'शेली' का हृदय फूट पड़ता है—

Misery we have known each other,
Like a sister and a brother.

दुखी-हृदय को, अपने चारों ओर सुख का स्रोत बहता देख, अपना अभाव और भी वेदनाप्रद हो जाता है—

मधुमालतियाँ सोती थीं, कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर गिनता अम्बर के तारे॥

यह वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है। इसी निराशा से कवि-हृदय भार-स्वरूप बन जाता है। वह विवशता में बँधकर व्याकुल हो रो उठता है—

मेरे दुःख में प्रकृति न देती क्षण-भर मेरा साथ;
उठा शून्य में रह जाता है, मेरा भिक्षुक हाथ।

—रामकुमार वर्मा

पार्थिव घात-प्रतिघातों से निरन्तर निराशा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उसका भार मानव-शक्ति द्वारा वहन नहीं किया जा सकता। कवि आक्रान्त हो जाता है—

नहीं सहा जाता अब तो देवि,
असफलता का यह भीषण भार!

—भगवतीचरण वर्मा

महाकवि 'शेली' भी इसी प्रकार असफलताओं, वेदनाओं के भार से दबा जाता है; किन्तु वह अकर्मण्य बनकर प्रलाप ही नहीं किया करता, वह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करता है—

Oh lift me as a wave, a leaf, a cloud
I fall upon the thorns of life, I bleed!

जिस प्रकार निशा के अंधकार में व्यक्तिगत भेद-भाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही ऐसी वृत्ति है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से बाँध देती है। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, पर दुःख सबको बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीव को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जलबिंदु समुद्र में मिल जाता है—यही कवि की निर्वाण-प्राप्ति है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है, किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व। दुःख के इस सिद्धान्त की अन्वेषक श्री महादेवी वर्मा इसी भाव को निम्न पंक्तियों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र बके सबन्धन का;
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।

दुःख की उपयोगिता उनके भावना-क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख के पक्ष को प्रबल सिद्ध करने में सुख के प्रति उनके हृदय में लघुता और निष्प्रयोजनीयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं—

सुख आता श्वासों के पग धर
रुद्ध हृदय-पट लेता कर
गर्वित कहता मैं मधु हूं मुझसे पतझड़ का क्या नाता !

पंतजी के हृदय से भी दुःख के प्रति बड़े ही मार्मिक उद्‌गार उद्‌भूत हुए हैं—

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन।
अपनी डाली के काँटे नहीं बेधते अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणों का धन।

'ग्रे' भी इसी प्रकार पंतजी के साथ स्वर में स्वर मिलाता है—जब वह अपने अनुभव को निम्न शब्दों में चित्रित कर देता है—

Sorrow, the tamer of the human breast !

किसी-किसी कवि को तो सुख से इतनी घृणा तथा दुःख से इतना प्रेम हो गया है कि वे उसको हृदय के कुंज में मृग-छौना-सा पालते हैं—

मेरा दुख हत्यारे जग का बन जाये न खिलौना-सा ;
इस भय से उर के कुंजों में छिपा रखा मृग-छौना-सा।

इस प्रकार आधुनिक काव्य-साहित्य में छायावादी कवियों ने विषाद और वेदना का जो अबाध-स्रोत बहाया है उसमें अन्य विषय पूर्णतया डूब-से गए हैं। कवि सम्राट् 'शेक्सपियर' के शब्दों में वे अश्रु के टलमल-नृत्य को हास के मधुर लास से अधिक मनोहर मानते हैं—

A Beauty's tears are lovelier than her smiles.

वेदना, विषाद, करुणा, आँसू की अनुभूति में इस काल में जो कलात्मक चित्र अंकित किये गए हैं, वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य रत्न-लड़ियाँ हैं। करुणा के व्यापक प्रभाव को दृष्टि में रखकर पंतजी का कवि आर्द्र-वाणी में कह उठता है—

आँसू की आँखों से मिल भर ही आते हैं लोचन

× × ×

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग-जीवन का बन।
करुणार्द्र विश्व की गर्जन बरसाती नव-जीवन-कण।

'प्रसाद' जी की करुणा तो उनकी सर्वस्व है। 'निराला' जी के करुण चित्र कोमल और सुकुमार नहीं, किन्तु उनमें एक आह-सी, एक मौन-वेदना-सी कुछ सजीव टीस है, जो बरबस करुणा से आँखें सजल कर देती है। 'भारत की विधवा' और 'भिक्षुक' में उनकी स्वर-लहरी के शब्द-शब्द में, तार-तार में करुणा इस प्रकार घुली पड़ी है कि वह उसकी आत्मा, उसकी ताल बन गई है। 'भारत की विधवा' की निम्न पंक्तियों में कितना करुण प्रवाह है—

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव में लीन

× × ×

वह टूटी हुई लता-सी छुटी दीन

× × ×

उस सरिता की करुणा की मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को—
दुख रूखे-सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में—
दुख सुनता है आकाश धीर—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहर कर।

जीवन और जगत्—

No man ever was yet a great poet, without being at the same time a profound philosopher of life.

-- Coleridge

अमेरिका के प्रसिद्ध कवि 'वाल्ट ह्विटमैन' ने एक बार कवि-कर्तव्य के सम्बन्ध में लिखा था—'उसका जन्म-स्थान आत्मा है; अतः जिस रचना का सर्वस्व आत्मा नहीं, वह कविता नहीं। कवि न तो सदुपदेश देता है और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना आत्म-गौरव समझता है। इस आत्म-गौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनन्त है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है। इस प्रकार कवि जगत् और जीवन का एक बड़ा उत्तरदायी समालोचक है। अपने अनुभव से, भावना से, कल्पना से वह जगत् और जीवन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालता

है । जीवन के सभी पक्षों की अनुभूति के निमित्त अपने हृदय को वह खुला रखता है । जीवन के प्रत्येक तत्त्व में, प्रत्येक मनोविकार में, वह घुसकर उसके एक-एक कण को टटोलता है, और अन्त में अपनी साधना से सन्तुष्ट होकर उनके चित्र खींचता है ।'

हिन्दी के छायावादी कवियों की दृष्टि भी पर्याप्त रूप में जीवन और जगत् की समस्याओं पर गई है । फल-स्वरूप अनेक ऐसे मुक्ताकण प्रकट हुए हैं जो साहित्य की 'स्थायी सम्पत्ति' में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं ।

जीवन सुख-दुख, हास-विषाद, प्रेम-घृणा की आँख-मिचौनी है । न तो जीवन पूर्णतया सुख ही है और न पूर्णतया दुख ही । सुख-दुख जीवन-पक्षी के दो पंख हैं जिनसे वह इस अनन्त विश्व में साधनाशील होकर जीवन के, आत्मा के सत्य को खोजता फिरता है । कविवर पंत जी इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन में ओझल हो शशि औ शशि में ओझल हो घन ।

यदि जीवन के प्रत्येक पक्ष में, प्रत्येक स्थिति में उल्लास की ही सुधा-स्राविणी रागिनी बजती रहेगी, अथवा जीवन के पग-पग पर दुःख के अश्रु ही बिखरा करेंगे, तो वह जीवन भी एक भार-स्वरूप हो जायगा—

अपने मधु में लिपटा पर कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर खो देता जीवन-कम्पन ।

— पंत

'प्रसाद' जी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे ;
चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुञ्ज में जैसे ।

महादेवी वर्मा जीवन को हर्ष-प्रधान अथवा हर्ष और विषाद का सम्मिलन मानने की अपेक्षा उसे वेदना-प्रधान मानती हैं । अपने इस सिद्धान्त में वे तथागत भगवान् बुद्ध के दर्शन से प्रभावित हुई प्रतीत होती हैं । भगवान् बुद्ध की भाँति वे संसार की उत्पत्ति को ही दुःख मानती हैं—सभी वस्तुओं में वे उस अनन्त विषाद का ही प्रतिबिम्ब देखती हैं—

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द;
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?

'प्रसाद' का कवि-हृदय जीवन की नश्वरता तथा क्षणभंगुरता का ध्यान कर ही विकल मुख फेर लेता है—

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की;
मरकन्द-भरी खिल जावें, तोड़ी जावें बे-मन की।

हम जीवन को साररूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसाररूप में नहीं, क्योंकि संसार के सुख-दुःख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति उसके जीवन में एक भिन्न वस्तु हैं; जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है—

अस्थिर जीवन का सुख-दुख, जीवन ही सत्य, चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन !

आधुनिक छायावादी कवियों का वैराग्य में अथवा जगत् के कार्य-क्रम से उदासीनता में विश्वास नहीं, वरन् कर्म में विश्वास है। मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनों में उनकी अधिक आस्था है—

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिरगूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधुक्षण, पर, कठिन मुक्ति का बंधन।

इसी प्रकार का भाव कवीन्द्र रवीन्द्र की 'स्वर्ग से विदा' में मिलता है। इसी प्रकार अँगरेज़ी का प्रसिद्ध विचारक कवि 'ब्राऊनिंग' अपने Rephan नामक काव्य में अपने हृदय की वृत्तियों को चित्रित करता है। वह स्वर्ग के सुख से ऊब गया; स्वर्ग के अस्तित्व में ग्लानि का भाव उदित हुआ, वह पार्थिव-जगत् के लिए व्याकुल हो गया—

I yearned for no sameness but difference
In thing and thing.

× × ×

Thou art past, Rephan,
Thy place to earth.

श्रीमती महादेवी वर्मा भी इसी प्रकार अपनी रागिनी गाती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार !
मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर।

कर्म-योग में विश्वास के साथ कवियों को फल की आकांक्षा नहीं। उनका सिद्धान्त है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' निम्न पंक्तियों में यही भाव है—

इस अचल क्षितिज-रेखा से, तुम रहो निकट जीवन के;
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके।

—महादेवी वर्मा

उठ-उठ लहरें कहतीं यह, हम कूल विलोक न पावें;
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।

—पंत

इन साधनाशील तथा पार्थिव-प्रिय हृदयों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या उन कवियों की भी है जो संसार की ज्वाला से, वेदनापूर्ण स्थिति से व्याकुल होकर एक नये ही लोक में जाना चाहते हैं—

हमें जाना है जग के पार—जहाँ नयनों से नयन मिलें;
ज्योति के रूप सहस्र खिलें, सदा ही बहती नव रस-धार;
वहीं जाना इस जग के पार।

—'निराला'

एक श्रेणी के कवियों के हृदय में ससार की इस अशान्ति, उद्वेग, विशृंखलता के प्रति क्रोध का एक बवडर छिपा पड़ा है। वे संसार का अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हैं। अपनी वेदनापूर्ण स्थिति से वे इतने क्रोधित हैं कि शेष संसार की उनको कुछ चिन्ता नहीं। वे प्रलय को निमन्त्रित करते हैं—

गगन पर घिरो मंडलाकार! अवनि पर गिरो वज्रसम आज!
गरज कर भरो रुद्र हुंकार, यहाँ पर करो नाश का साज!

—भगवतीचरण वर्मा

प्रकृति—

आधुनिक छायावादी हिन्दी कवियों ने प्रकृति की गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही कलापूर्ण दृश्य चित्रित किया है। जिस प्रकार अंगरेज़ी की रोमांटिक कविता ने विगत प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसमें अमर-सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के संश्लिष्ट चित्र अंकित किये हैं, उसी प्रकार वर्तमान छायावाद की धारा के कवियों ने भी 'शेली' के स्वर-में-स्वर मिलाकर गाया है—

I sang of the dancing stars,
I sang of the dædal earth;
And of heaven—and the giant wars,
And Love, and Death, and Birth.

हिन्दी-साहित्य का प्रकृति का सलोना शिशु कवि भी प्रकृति से इसी प्रकार मधुरालाप करता है—

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि, तुम्हारे मीठे-मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान।

फिर तो प्रकृति का वह इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कलरव करता है, उसी में मिल जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन पक्षियों को भी उसी ने गान सिखाया हो—

विजन-वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान ?
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि सजल मेरा सोने-सा गान।—पंत

पंतजी ने 'बादल', 'चाँदनी', 'नौका विहार', 'एक तारा', 'छाया' शीर्षक कविता में प्रकृति के बड़े ही सश्लिष्ट चित्र निर्माण किये हैं, जिन पर हिन्दी को गर्व और गौरव है। 'निराला'जी की 'जूही की कली', 'संध्या सुन्दरी', 'शेफालिका' तथा 'यमुना के प्रति' कविताओं में प्रकृति-चित्रण एवं प्रकृति-पर्यवेक्षण चातुरी की जिस अद्वितीय प्रतिमा के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी के लिए एक सौभाग्य की वस्तु है तथा उससे निर्मित चित्र संसार की किसी भी उच्च कला एवं साहित्य के सम्मुख रखे जा सकते हैं। पं० इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती', 'प्रथमवर्षा', 'मधुवन का माली' कविताओं में प्रकृति के मर्मों का मननशील रहस्योद्घाटन है—

वह सरिता की कलित-ललित गति,
सागर का फेनिल कल्लोल;
उपवन की वह मृदु मादकता,
कानन का मर्मर हिल्लोल!
मधु आसव से गंध विधुर वह
मलयानिल का मदिरोच्छ्वास,
उच्छल-फेनिल - जलधि-विलोड़ित
पुरवैया का सजल उसास।

भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद के द्वारा प्राचीन परम्परा के प्रति क्रांति और विद्रोह की अग्नि भी प्रज्वलित हुई। इसका स्पष्ट स्वरूप काव्य-शैली के कलेवर में देखा जा सकता है। प्रबन्ध-काव्य की परम्परा अतल उदासीनता में डूब-सी गई है तथा उसके स्थान पर गीति काव्य का पुनर्निर्माण किया जा रहा है। 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' ने सर्वप्रथम बँगला साहित्य और अंगरेज़ी साहित्य की गीति-कला से प्रभावित होकर हिन्दी काव्य-साहित्य में उसका श्रीगणेश किया। तत्पश्चात् समस्त काव्य-साहित्य में एक ऐसी लहर आलोड़ित हो उठी कि उसमें समस्त अन्य शैलियाँ मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठीं तथा गीति-काव्य-कला ही आधुनिक कविता की मुख्य धारा रह गई। गीति-काव्य का नेतृत्व आजकल श्रीमहादेवीजी के हाथ में है; उनके गीतों की मधुरता एवं रमणीयता अन्यत्र नहीं है।

कालिदास और तुलसी की शब्द-चित्र-कला अतीत के गर्भ में विलीन होकर नष्ट-सी हो गई थी। यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि के निमित्त ही शब्दों का प्रयोग होता था, किन्तु छायावाद की धारा के साथ कुशल चित्रकारों का भी हमारे काव्य-साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। 'शैली' का आंतरिक चित्र-निर्माण पंत का मुख्य विषय बन गया। उन्होंने मुद्रा, स्थिति तथा भाव-भंगिमाओं का ऐसा चित्रण किया कि जो स्वयं बोलकर बिना अर्थ के ही अपना स्वरूप स्पष्ट कर देता है—

गहरे, धुँधले, धुले, साँवले, मेघों से भरे भरे नयन।

'निराला' के शब्द चित्र तो हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। वस्तुओं के अंतराल तथा बाह्य-स्थिति का उनका प्रत्यक्ष-दर्शन एवं शिल्प-कौशल उनके चित्रों को चेतन-जैसा सवाक, सप्राण तथा सरल बना देता है—

सोती थी सुहाग-भरी स्नेह स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी जूही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।

पुराने छंदों को, जो कि ब्रजभाषा के ही विशेष उपयुक्त पड़ते थे, बहिष्कृत कर उनके भग्नावशेष नए-नए छंदों की उद्भावना की। कवियों ने विरोध की भीषणता में भी अपने आंदोलन को गतिशील रखा है। नवीन छंदों के साथ-साथ मुक्तक छंद भी हमारे काव्य कानन में गूंजने लगे। इनका सूत्रपात एवं समर्थन 'निराला' जी ने किया। उन्होंने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़ीं, जिनसे कविता की स्वच्छन्द गति बंध-सी गई थी।

कल्पना-शक्ति अधिक सरस एवं विस्तृत हो गई, साथ-ही-साथ कविता-कला संगीत कला के साथ एकाकार होकर मधुरता की मूर्ति बन गई। भारतीय संगीत के साथ-साथ बंगला, अंगरेज़ी-संगीत का भी हमारी काव्य-कला पर रंग चढ़ गया। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी-काव्य-अप्सरा अपने बंधनों से मुक्त होकर, विविध शृंगार से युक्त होकर, नूपुरों की मंजुल-ध्वनि करती तथा अपने कल कंठ से जगत् पर माधुरी-कण बरसाती विश्व-साहित्य-प्रांगण में उतर पड़ी है।

१४

साहित्योपवन में नवल लताएँ

एक समय था हमारे साहित्य-उपवन में केवल काव्य की माधवी-लताएं ही एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक थीं। वीर-गाथा-काल से लेकर अभी तक हमारे साहित्य की भावावेशमयी प्राण-प्रवेगणी केवल काव्य की अभिव्यंजना में ही निगूढ़ थी। हम अपने भावों को, विचारों को, आदर्शों को, सिद्धान्तों को अभी तक काव्य की धारात्मक अभिव्यक्ति में ही प्रकाशित करते थे। यही कारण है कि हमारे काव्यांगों की परिभाषा एवं उदाहरण, हमारे व्याकरण के नियम एवं उप-नियम, साहित्य-समालोचना का प्रतिपादन एवं विवेचन सभी पद्य की शृंखला में प्रबन्धित रहते थे। किन्तु आज समय की गति में महान् परिवर्तन हुआ है। परिवर्तन एवं प्रत्यावर्तन की एक ऐसी भयावनी लहर आज विश्व के धरातल पर हिल्लोलित हो उठी है कि परम्परा से प्रभूत सभी सत्ताएं काँप रही हैं—कुछ अपने अस्तित्व में जीर्ण एवं क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गई हैं और कुछ, जिनमें चिरन्तनता का सनातन सत्त्व था, अभी तक अपनी भित्ति पर आरूढ़ हैं। चाहे जिस परिस्थिति में हम हों, किन्तु परिवर्तन के प्रत्यावर्तित परिणाम से हमारा कुछ भी निरंग, निर्लिप्त एवं निःसंग नहीं रहा—हम सभी बातों में, सभी पहलुओं में, सभी अंशों में यहाँ तक कि अपनी अन्तरात्मा एवं विचारात्मक भावनाओं तक में आज नवीन बन गए हैं। गद्य के प्रचलन एवं प्रचार के साथ-साथ साहित्य की प्रकाश-प्रवृत्तियों का द्वार-सा खुल गया। नवीन-नवीन प्रकार की अभिव्यंजनाएं प्रादुर्भूत होने लगीं और हमारे साहित्य का उपवन भाँति-भाँति की नवीन लताओं से परिव्याप्त-सा हो गया। परिणाम-स्वरूप आज हम एक परिपूर्ण उपवन में हैं—जिसमें एक ही सुमन-लता की सौरभ नहीं, वरन् अनेक प्रकार की सौन्दर्यमयी लताओं और भाँति-भाँति की कोमल-कोमल बेलियों का ललित लावण्य और प्रांजल कमनीयता भी है। इन नव-अंकुरों तथा नव-बेलियों पर एक दृष्टिपात करना आज समालोचना के पथ में एक आवश्यक विश्राम-स्थल हो गया है। अवज्ञा की उपेक्षित

दृष्टि से, उदासीनता की dictatorial मनोवृत्ति से इनकी ओर से मुख मोड़ने का समय अब नहीं रहा; ध्यान का आकर्षण इनकी सत्ता से (चाहे वह आज इतनी छोटी और क्षणिक दीखनेवाली ही क्यों न हो) कभी हटाया जा सके, या अछूता रखा जा सके—यह आज असम्भव हो गया है। मैंने साहित्य के सभी अंगों पर अपने विचार प्रकट किये हैं, अपनी रागात्मिका कसौटी पर मैंने सबको कसा है। इस आलोचना के राजमार्ग में मैं इन नवीन प्रकार की प्रकाशवती शैलियों को देखता हूँ औ रदेखता आया हूँ; इनकी ओर से आँखे फेर लेना आज मेरे लिए असम्भव प्रतीत होता है; इसकी कल्पना भी मेरे लिए एक ऐसी बात हो रही है, जिसको मेरा हृदय अन्याय, अत्याचार, पक्षपात या एकांगीपन कह सकता है। फलतः इन नवोदित एवं नवांकुरित बेलि-बालाओं पर मैं अपने कुछ विचार संक्षेप में प्रकट कर रहा हूँ। और साथ ही कुछ इनकी आवश्यकताएँ और इनके भावी विकास के लिए कुछ सावधानियाँ भी अपने दृष्टिकोण एवं अपनी निजी धारणा के अनुसार निर्धारित करूँगा।

गद्य के आविर्भाव के साथ-साथ सबसे उल्लेखनीय जो भाव-व्यंजनाएं हमारे साहित्य में आईं, उनमें गद्य-काव्य विशेष चित्ताकर्षक एवं विचारणीय है।

गद्य-काव्य

हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य का ऐतिहासिक अवतरण मूल रूप से भारतेंदु के साहित्योदय से प्रारम्भ होता है। भारतेंदु ने नाटकों की मौलिक रचना की तथा बंगला नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित करवाये—इन गद्य कृतियों में हमें उनका कविरूप ही विशिष्ट प्रकाशमान प्रतीत होता है, एक मूल नाटककार का नहीं। जहाँ-जहाँ भावावेश की उद्वेलित धाराएं बौद्धिक विचार परिसीमा की सत्ता को अतिक्रमण कर गईं, वहाँ भारतेंदु की लेखनी से प्रसूत विचार जैसे भावना के प्लावन में डूब-से गए—उनका अस्तित्व नष्ट-सा हो गया। 'भारत-दुर्दशा' नाटक तथा 'चन्द्रावली' नाटक के अनेक स्थल गद्य के रूप की अपेक्षा पद्य के स्वरूप के अधिक समीप पड़ते हैं - उनमें गद्य में प्रभूत मानसिक चिंतना एवं प्रचेतना (reflection) के स्थान पर काव्य की मानसिक भावात्मकता ही विशेष प्रोज्ज्वल एवं प्रतिमुखर प्रतीत होती है। यह नई प्रकार की शैली वास्तव में क्या है तथा इसका क्षेत्र, इसका शरीर और आत्मा किन-किन मूल-तत्त्वों से निर्मित है, आदि पर विचार प्रकट करना (गद्य-काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का विवेचन करने से प्रथम) एक परमावश्यक और विशेष विचार करने योग्य समस्या है।

गद्य-काव्य अपनी सम्पूर्णता में कला के दृष्टिकोण से शत-प्रतिशत काव्य-कला का ही भावात्मक स्वरूप है। अतुकांत छंदों का व्याकरण-व्यवस्थित शरीर गद्य की वस्तुवादिता से पूर्णतया उन्मुक्त होकर जब हृदय की रागात्मिका भावनाओं की प्राण-लहरों से अनुप्राणित हो जाता है, तब जिस व्यंजना में भाव लेखनी से साकार होने लगते हैं, वह व्यंजना ही गद्य-काव्य की संज्ञा से प्रसिद्ध है। पद्य की प्रबंधना तथा संगीत की साधना से परिपूर्ण भावराशि कविता है तथा गद्य की प्रबंधना एवं भाव की आत्मा से संयोजित अभिव्यक्ति गद्य-काव्य है। गद्य काव्य में काव्य से एक सुविधा है। किसी सद्यःसंवेदित भावराशि की अपनी स्फूर्ति, प्रगति एवं प्रभाव पद्य में उसे प्रबधित करते समय काफ़ी मात्रा में न्यून होती जाती है, और कवि को उसमें कुछ परिवर्तन भी कर देना पड़ता है, क्योंकि भावराशि को प्रबंधित करने में जितना समय व्यय किया जायगा, चाहे वह थोड़ा या नगण्य ही क्यों न हो, उतने समय के भीतर भावराशि की जो प्रतिमा हमारे हृदय पर बनी है, उसका स्वरूप क्षीण होता जाता है और मिट भी जाता है। अतः इस प्रतिमा का जो चित्र हम अंकित करेंगे, वह स्मृति-आवर्तन (recollection) के मानसिक पट से छन कर आयगा; उसमें उतनी विदग्धता एवं मार्मिकता नहीं रहेगी। इस कसौटी पर गद्य काव्य विशुद्ध काव्य (pure poetry) से विशेष महत्त्वशील उतरता है, किन्तु विशुद्ध काव्य की संतुलित पद्य-बद्धता तथा संगीत की विदग्धता उसकी 'अपील' (appeal) को कई गुना ज्यादा व्यक्तीय (expressive) एवं मार्मिक (impressive) बना देती है। संगीत हमारी आत्मा एवं अंतस्तल की सबसे निकट की और सबसे अपनी प्रेरणा है। विशुद्ध काव्य की प्रभविष्णुता का मूल कारण इसी संगीत की विभूति में सन्निहित है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध विद्वान डा० 'कज़िन्स' ने 'काव्य' पर व्याख्यान देते हुए बड़े ही तत्त्वशील और मार्मिक वाक्य कहे हैं—

When the soul feels in itself the highest, the fullest, a musical outburst seizes the integrity..... And the soul does not always sing in versified tune, but it is very often that the unconscious flow of emotion, we daily mark, is in simple and emotional fervour.

अर्थात्, जब आत्मा अपने स्वीय सर्वोच्च एवं परिपूर्ण का अनुभव करती है, तब एक संगीतमय प्रवाह-प्रवेग निजत्व पर अधिकार कर लेता है.....और

आत्मा सदैव पद्य-विशृंखलित स्वर में ही नहीं गाती, किंतु प्रायः ऐसा होता है कि भाव का अचेतन प्रवाह, जैसा कि हम देखते हैं, सरल एवं भावात्मक धारा में ही बहता है।

भारतेंदु के बाद 'प्रेमघन' पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने भी काव्यात्मक गद्य लिखा, किन्तु भारतेंदु के गद्य की भाँति हम उसे भी काव्यात्मक गद्य ही कह सकते हैं, गद्य-काव्य नहीं, क्योंकि 'टेकनीक' के विचार से गद्य-काव्य और काव्यात्मक गद्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं। काव्यात्मक गद्य गद्य व्यंजना की प्रत्येक प्रणाली में स्थान पा सकता है, उसका कोई अपना 'टेकनीक' नहीं है—अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह कहानी में, उपन्यास में, नाटक में, निबन्ध में, और समालोचना आदि सभी में अपनी उपस्थिति प्रगूढ़ कर सकता है। किन्तु गद्य-काव्य एक अलग और स्वतंत्र सत्ता है, जो अपनी एक स्वतंत्र और परिपूर्ण 'टेकनीक' रखता है। अतः हिन्दी-साहित्य में स्वतंत्र रूप से गद्य-काव्य का सूत्रपात पं० बालकृष्ण भट्ट की प्रौढ़ लेखनी से हुआ। उन्होंने छोटे-छोटे भावनामूलक गद्य-काव्य लिखे, जिनमें छोटे-छोटे कथावृत्तों की शरण लेकर भाव-प्रवण वाक्यों का सरस संवेदन है। इसी आकार-प्रकार को लेकर तथा रवि बाबू की भाव-शैली की अनुरूपता दिखाते हुए रायकृष्णदासजी अपनी 'साधना' लेकर हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में उतरे। 'साधना' रवीन्द्र के 'माली' (Gardener) की भाँति एक काव्यात्मक दर्शन एवं जीवन-सम्बन्धी विचारों से आलावित अद्वितीय गद्य-काव्य-कृति है। चतुरसेन शास्त्रीजी के गद्य काव्य हिन्दी की अपनी चीज़ हैं; धर्म और आत्मधर्म का मानव के जीवन से सम्बन्ध तथा मानवीय मनोवृत्तियों का आन्तरिक विश्लेषण शास्त्रीजी की अपनी विशेषता है। इधर कई दिनों से हिन्दी की कई पत्र-पत्रिकाओं में दिनेश-नन्दिनी चोरड़िया ने अनेक गद्य-काव्य प्रकाशित करवाये हैं जो भावना तथा शैली के दृष्टिकोण से अपनी अलग विशेषता रखते हैं। प्रारंभ से लेकर अंत तक इन गद्य काव्यों में प्रेम के अतिरिक्त अन्य और कोई भाव का आभास भी नहीं है। और वास्तव में प्रेम की समस्त एवं निगूढ़ गांभीर्यमयी अवस्थाओं का चित्रण भी नहीं हो पाया है। भाव-प्रवणता के उथले धरातल तक ही लेखिका की तूलिका सीमित रही—जल की गहराई में व्याप्त गंभीरता पर उसकी साधना नहीं केन्द्रित हो पाई। अपनी 'वेदना' की अंजलि में अभी हाल ही में श्री भँवरलाल सिंघी कुछ बड़े ही गंभीर एवं मार्मिक गद्य-काव्यों की सौरभ संचित कर हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हुए हैं। उनकी शैली गद्य-काव्य की आदर्श शैली निस्संकोचरूपेण कही जा सकती है। भावना के तरल-प्रशांत धरातल का जैसा मनोवैज्ञानिक विवेचन सिंघी जी की वेदना में प्रसूत है, वह हिन्दी के लिए एक अमूल्य वस्तु है।

कहानी और उपन्यास मानव-समाज की सबसे पहली अभिव्यक्तियाँ है। सृष्टि के सृजन-मूल में ही कहानी की हृदयस्थ व्यंजना है। कथा आदि-जीवन एवं आदि-काल की वह उन्मुक्त अनुभूति है, जो उस 'पुरुष' के अधरों पर उस 'प्रकृति' से कहने के लिए मुखर हो पड़ी थी, एवं वह विदग्ध धूमिल-सा स्वप्न या भाव-लावित अतस्तल का वह उच्छ्वसित आवेग है जिसको 'प्रकृति' की वाणी ने 'पुरुष' के कानों में विस्फूर्जित कर दिया था।

१५

हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग

पूर्णता में अपूर्णता और अपूर्णता में पूर्णता भ्रांतिमय आभास की एक बड़ी पुरानी कहानी है, या दूसरे शब्दों में यूँ कहना चाहिए कि मनुष्य के मन की मृग-मरीचिका-प्रवृत्ति की एक कहानी है। सृष्टि प्रारंभ हो चुकी थी। मनुष्य पृथ्वी पर आकर रैन-बसेरा बसा चुका था, और चाहे जिस हालत में रहा हो, किंतु वह पृथ्वी की छाती पर अपना अस्तित्व अनुभव कर रहा था। शरद् निशा थी। स्वच्छ नीले आकाश में चाँद हँस रहा था, अपने असंख्य चाँदी के मुखों से वह पृथ्वी के धरातल पर उपस्थित सभी जड़-चेतन वस्तुओं को चूम रहा था। मनुष्य ने उसको देखा। उस समय मनुष्य ईश्वर की खोज में तन्मय था और यूँ कहना चाहिए कि दिन-रात ईश्वर के सिवाय उसको शायद कोई और कार्य ही नहीं रहता था। चाँदनी की मुस्कराहट बिखेरते हुए चन्द्र को देखकर उसे ज्ञात हुआ कि ईश्वर की पूर्ण ज्योति उसी में समा गई है। वह घुटने टेककर स्तुति में लीन हो गया, मानो उसे अपने मन की पूर्णता मिल गई थी। थोड़ी देर बाद चाँद अस्त हो गया। मनुष्य ने आँखें ऊपर उठाकर देखा, अगणित तारिकाएं नीले रंगमंच पर नृत्य कर रही थीं; उनके नीरव गान को सुनकर वह मग्न हो गया। उसे ज्ञात हुआ कि परिपूर्ण ब्रह्म इन्हीं तारिकाओं की चमकती आँखों में समाया हुआ है। रोज़ मनुष्य उनमें अपना पूर्ण रूप देखता। फिर बरसात के दिन आये; बादलों से आकाश भर गया, गर्जन-तर्जन-वज्रपात और बादलों का पानी उडेलना—एक भीषण चीत्कार हुआ; बिजली चमकी और फिर बुझ गई—न-जाने कहाँ बादलों में। मनुष्य अस्थिर हो उठा। ओह! इस चमकती चंचला में है ईश्वर, वहाँ चन्द्रमा में कहाँ? तारिकाओं में कहाँ? प्रातःकाल हुआ। प्राची के उस धरातल पर, जहाँ प्रियतम-प्रेयसी की भाँति आकाश और पृथ्वी मिलते हैं, उषा हँस रही थी। मनुष्य का मन विचलित हो उठा—हाँ, मैं ठीक से नहीं समझ पाया था, ईश्वर की पूर्ण कला तो यहाँ है! इसी भाँति वह बहुत काल तक पूर्णता की मृग-मरीचिका की खोज में व्यस्त रहा, आखिर एक दिन घबराकर कह उठा—'नेति-नेति।'

इसी प्रकार अनंतकाल से मनुष्य पूर्णता के पीछे पागल रहा है, किन्तु उसकी पूर्णता की प्यास कभी नहीं बुझी--हमेशा ही वह प्यासा रहा, प्यासा ही रहता आया। मनुष्य की पूर्णता की साधना में साहित्य भी एक मुख्य अंग है। इस क्षेत्र में भी वह सदा पूर्णता की ज्योति की खोज में रहा है। उसकी कल्पना में जो कुछ आया, हृदय पर जैसा भी चित्र बना, यदि वैसा ही वह शब्दों द्वारा न प्रकट कर सका, वैसा ही अपनी लेखनी से काग़ज़ पर शब्दों की रेखाओं से नहीं खींच सका, तो उसकी पूर्णता की साध पूरी नहीं हुई, उसकी प्यास बुझ न सकी। और नहीं कह सकते कि यह मानव का सौभाग्य रहा है अथवा दुर्भाग्य कि कभी उसे अपने चित्र से, अपने रचनात्मक कार्य से, संतोष नहीं हुआ। रात-दिन जीवन पर्यन्त वह शब्द-चित्र बनाता रहा, किन्तु उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई; वह आजीवन बनाता रहा, बनाता गया और शायद अपनी राख में भी चित्र बनाने का अरमान छोड़ गया हो। किन्तु वह अपूर्णता से झगड़ता ही गया।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि साहित्य सदैव कम-से-कम कलाकार की दृष्टि में तो अपूर्ण रहा है, और न-मालूम कब तक रहे। दूसरे, दिन-प्रतिदिन मनुष्य पूर्णता की ओर बढ़ता जा रहा है। अपने लक्ष्य की ओर वह बढ़ ही रहा है, उसकी गति रुकी नहीं। इससे यही ध्वनित होता है कि जो वस्तु आज की है वह कल की वस्तु से यदि और किसी दृष्टिकोण से न हो तो कम-से-कम आज के आदर्शों एवं सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से तो अच्छी होगी। इसके अतिरिक्त एक बात और। यदि किसी भाँति या किसी कारण से आज का निर्माण कल के निर्माण से अच्छा या श्रेष्ठतर नहीं हुआ तो यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि वह श्रेष्ठतर के लिए साधना तो कर रहा है। द्वितीया का चन्द्रमा चलते-चलते पूर्णिमा तक तो अवश्य ही पूर्ण कला की किरणों से अलंकृत हो जाता है। अस्तु, हमारे इस सम्पूर्ण विवेचन का अभिप्राय यह है कि हमारा आधुनिक हिन्दी-साहित्य एक स्वर्ण-युग की परिधि-रेखा पर पहुँच गया है, और भविष्य में यह आशा है कि वह उसके केन्द्र-बिन्दु को भी छू सकेगा।

विकास-नियम के इस सिद्धांत पर विचार करने के पश्चात् यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम हिन्दी-साहित्य के सब कालों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालें और प्रत्येक का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उन अभावों एवं आवश्यकताओं की ओर भी संकेत करें, जिनकी पूर्ति उसे शीघ्र करनी है। विचार-धाराओं को दृष्टि में रखकर वर्तमान हिन्दी-साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जाता है--

(१) आदि-काल (वीर-गाथा-काल संवत् १०५०-१३७५)

(२) पूर्व-मध्य काल (भक्ति-काल ,, १३७५-१७००)

(३) उत्तर-मध्य काल (रीति-काल संवत् १७००–१९००)

(४) आधुनिक काल (गद्य-काल ,, १९००–अब तक)

काल की आवश्यकता किसी वस्तु को जन्म देती है, जैसे विचारों की। जैसी भावनाओं की धाराएँ किसी काल में बहती रहेंगी वैसा ही साहित्य, वैसी ही कला और वैसी ही प्रवृत्तियाँ उस काल में पैदा होंगी, बढ़ेंगी और स्थिर हो जायेंगी। वीर-गाथा-काल भारत के दूसरे महाभारत का काल था; इसे हम समर-काल या शौर्य-काल कह सकते हैं। अतः इस काल का समस्त साहित्य शौर्य भावनाओं एवं वीर-दर्प के विचारों से भरा हुआ है। गद्य का तो आविष्कार भी इस काल में नहीं हो पाया, अतः जैसा भी, और जो कुछ भी साहित्य हमें इस काल की रचनाओं का प्राप्त है वह पद्य में ही है। कितनी हड़बड़ी का, कितनी घबराहट का था यह काल! किन्तु साहित्य और अमर साहित्य, काल एवं देश की परिमित सीमा का अतिक्रमण कर जाता है—यह बात वीर-गाथा-काल के साहित्य मे नही थी। भावनाओं की यह उन्मुक्त उन्मेषिणी वीर-गाथा-काल के कवियों की तूलिका में नहीं प्रतिष्ठित हो पाई। वे केवल शौर्य एवं शक्ति के ही प्रदर्शन में लगे रहे। दूसरे, यह वीर-रस-चित्रण कहीं-कहीं बड़ा अस्वाभाविक भी हो गया है। तुलसी का वीर-रस एवं भूषण का शौर्य भाव उससे कहीं अधिक प्राकृतिक एवं परिपूर्ण है।

वीर-गाथा काल के पश्चात् भक्ति-काल का आवर्तन हुआ। वीरता के क्षत-विक्षत शरीर पर शान्ति एवं विरक्ति का लेप करने के लिए कबीर, सूर, तुलसी की भक्ति-साधना उमड़ चली। इस काल की प्रज्वल प्रतिभा एवं उन्मुक्त ज्योति-प्रसार हमारे हिन्दी-साहित्य की ही क्या समस्त विश्व-साहित्य की एक बहुमूल्य देन है। यदि इस काल को किसी सीमा तक हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहें तो कोई अनुचित एवं अविचारणीय नहीं हो सकता। यदि काव्य को ही साहित्य मान लिया जाय तो यह काल हिन्दी-साहित्य ही क्या सारे विश्व-साहित्य का निश्चय ही स्वर्ण-युग है। इस जैसा काल किसी भी साहित्य की प्रगति में अभी तक नहीं आया। विश्वजनीन भावनाओं का निदर्शन एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सजीव चित्रण जैसा इस काल की तूलिका से निःसृत हुआ वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक विद्वान् एवं आलोचक इस काल को एकांगी बताते हैं, किन्तु यह उनकी अल्पज्ञता है। कोई भी चीज़ एकांगी एवं सर्वांगी उस काल के आदर्शों, परिस्थितियों और तज्जनित भावों के दृष्टिकोण में देखी जाती है। भक्ति-काल के कवियों ने साहित्य के लिए काव्य-साधना नहीं की—यह तो उनका गौण ध्येय था; उनकी साधना थी आक्रांत और उद्भ्रांत मानवता के विकल अंतस्तल में सत्य की ज्योति जगाना, आत्माहतों को आत्म-संजीवन प्रदान करना। कितनी करुणा थी उनकी इस

स्वाभाविक साहित्य-तपस्या में ! दूसरा दोष लगाया जाता है उन पर उनके व्यवहारात्मक नहीं होने का। किन्तु यह भी एक उपहास की बात है। तुलसी, कबीर तथा सूर की कितनी सुभाषित रत्नमालाएँ ग़रीब के जीर्ण झोंपड़े से लेकर सम्राटों के महलों तक प्रत्यावर्तन पा रही हैं। हाँ, माना जा सकता है कि इस काल में गद्य नहीं था, अतः वर्तमान काल से उसमें एक कमी थी; किन्तु उस काल में रेलगाड़ी, बिजली आदि भी तो नहीं थे। मतलब यह कि वह काल अपनी स्थितियों, परिस्थितियों एवं भावनाओं के साथ एक अलग चीज़ है और वर्तमान काल अपनी स्थितियों एव परिस्थितियों के साथ एक अलग।

भक्ति-काल का महत्त्व हमारे सामने इसलिए कम हो जाता है कि वह अपनी गति स्थिर नहीं रख पाया; भक्ति की प्रशांत और पुनीत वाटिका में पंचशर लेकर रति की केलि-क्रीड़ा नृत्य करने लगी। यह काल शृंगार का काल था, विश्राम, लिप्ति एवं वैभव का काल था। अतः कवियों की लेखनी ऐसे ही उपादानों की ओर झुक पड़ी। नायिकाओं के भेद-विभेद एवं यौवन-काल में प्रविष्ट नारी की भाव-स्थिति और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ, विरहिणी की केवल शारीरिक वेदना की व्यंजनाएँ आदि के सिवा इस काल में कविता का कोई और उद्देश्य भी नहीं था। शृंगार कोई घृणा की वस्तु नही—जीवन उसकी बड़ी सम्माननीय स्थिति है, किन्तु उसका विकृत-पतन विष से भी हानिकारक पदार्थ है। हमारी भावनाओं के लिए शृंगार का चित्रण वास्तव में रीतिकाल के कवि नहीं कर पाये। आंतरिक पक्ष की बलि वेदी पर वे शारीरिक शृंगार का बलिदान करते रहे। हाँ, भूषण एवं लाल कवि की वीर रस परिप्लुत भावनाएँ कहीं-कहीं गूँज उठती थीं, किन्तु उनका घोष नायिकाओं के रुनझुन में छिप-सा गया।

प्रतिक्रिया जीवन का मार्मिक तत्त्व है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया हुई। आधुनिक काल अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ लेकर साहित्य के प्रांगण में उतरा। वर्तमान काल हिन्दी का स्वर्ण-काल है। इसके कई कारण हैं—

(१) भावाभिव्यक्तियों की विविधता—
(२) उन अभिव्यक्तियों में कला के तत्त्व की मार्मिक विवेचना।
(३) विश्वजनीन दृष्टिकोण।
(४) गद्य का आविर्भाव एवं उसका उत्तरोत्तर विकास।
(५) साहित्य साधना में निर्लिप्ति का भाव।
(६) समालोचना का विकास और उससे साहित्यिकों का पथ-प्रदर्शन।

ये उपर्युक्त विशेषताएँ हैं, जिनके कारण हम आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को हिन्दी का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि

इसलिए अन्य काल नगण्य हैं, इससे निम्नतर हैं। नहीं, ऐसा कभी नहीं। बात यह है कि यह इस काल की विशेषता है, समय की विशेषता है, जिसने इन ऊपर लिखित विशेषताओं को जन्म दिया। समय की स्थितियाँ ही तो किसी निर्माण में हाथ बँटाती हैं। वर्तमान काल में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आ गईं, जिनके कारण हमारे साहित्य में भी परिवर्तन आ गए। उनमें से कुछ ये हैं –

(१) यूरोपीय एवं अन्य पाश्चात्य साहित्यों के सम्पर्क से भावना एवं विचार के कोष में परिवर्धन।

(२) शांति की पताका।

(३) गमनागमन के साधनों से सम्पूर्ण विश्व एक कुटुम्ब ही बन गया—भ्रातृत्व।

(४) वैज्ञानिक विकास से नवीनता एवं स्वाभाविकता का समावेश।

(५) राष्ट्रीय जागृति।

(६) मुद्रण-कला में चरमोन्नति।

अस्तु यही समय हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग कहे जाने योग्य है, क्योंकि आज का साहित्य सर्वांगी है।

१६

साहित्य में अंग्रेज़ीपन

किसी भी देश-विशेष की संस्कृति जब अन्य देश की संस्कृति के संपर्क में आती है, तो दोनों पर एक दूसरे का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। कहीं-कहीं यह प्रभाव नाममात्र को होता है और कहीं-कहीं बहुत अधिक मात्रा में। यही नहीं, कहीं कहीं तो एक संस्कृति अन्य संस्कृति के अस्तित्व तक को लोप कर देती है, और अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर नवीन साँचे में उस संस्कृति का स्वरूप निर्माण करती है।

भारतवर्ष का चिरकाल से यह सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ अनेक विभिन्न स्वरूपवाली संस्कृतियों का आगमन हुआ और प्रत्येक का काफ़ी प्रभाव इसकी संस्कृति पर पड़ा, किन्तु वह प्रभाव इतना विशाल स्वरूप कभी नहीं ग्रहण कर पाया जिससे भारतीय संस्कृति अपने वास्तविक स्वरूप को लोप कर दे तथा नवीन संस्कृति की आत्मा से अनुप्राणित और उसकी वेशभूषा से अलंकृत हो जाय। यह प्रभाव सदा एक क्षीण-सा बाह्य रंग ही रहा है जो 'कारी-कामरी' के रंगवाली आर्य-संस्कृति पर अपना प्रभाव आरोपित नहीं कर सका और वास्तव में इस रंग का क्षीण आभास भी प्रतीत नहीं होता, यदि आगंतुक संस्कृतियाँ शासक-स्वरूप में न आतीं।

ऐतिहासिक सामग्री से स्पष्ट है कि इन सभी आगंतुक संस्कृतियों से आर्य-संस्कृति इतनी प्रभावित नहीं हुई जितनी अँगरेज़ी द्वारा लाई पाश्चात्य-संस्कृति से। आर्य-संस्कृति की भाव-धारा और प्रकाश-धारा को पाश्चात्य संस्कृति ने अपने साथ बहुत-कुछ मिला-सा लिया है। इसके कई कारण हो सकते हैं। यूनानी-संस्कृति का प्रभाव आर्य-संस्कृति पर अँगरेज़ी की अपेक्षा नगण्य-सा पड़ा, क्योंकि पहले तो यूनान-निवासियों की सत्ता स्थापित न होने के कारण उनका समस्त देश में विस्तार न हो सका, दूसरे गमन-आगमन की इतनी सुविधाएँ न थीं। मुसलमान-संस्कृति का प्रभाव भी अँगरेज़ी की अपेक्षा कम है, क्योंकि मुसलमान सम्पूर्ण देश पर अपना शासन स्थापित नहीं कर सके, आने जाने की इतनी सुविधाएँ भी नहीं थीं और देश

में अशांति के बवंडर तांडव कर रहे थे। किसी भी सम्कृति का प्रभाव शांति के समय में ही विशेष रूप से अपना कार्य कर सकता है। नवीं शताब्दी से लेकर लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक का काल भारतीय इतिहास में परिवर्तन, विद्रोह और अशांति का समय रहा है। इसी कारण मुसलमान-संस्कृति लगभग एक हज़ार वर्ष में भी वह कार्य न कर सकी जो शांति का अवलंब पाकर अंगरेज़ी-संस्कृति केवल इन पचास वर्षों में ही कर सकी है।

हिन्दी-साहित्य और भाषा दोनों पर अंगरेज़ी का प्रभाव अमिट-सा पड़ा। साहित्य का सम्बन्ध विचार और भावनाओं से है और भाषा का बाहरी शृंगार से। विचार और भावनाओं के साथ साथ अंगरेज़ी का प्रभाव विचार करने की शैली और भाव उद्रेक की प्रणाली पर भी पड़ा। हमारा शिक्षित-समुदाय दिन-रात अंगरेज़ी के सम्पर्क में विशेष रहने के कारण हिन्दी में विचार करना तक भूल गया। जब उसका मस्तिष्क किसी घटना अथवा किसी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ धारणाएं स्थापित करने को प्रस्तुत होता है तो अंगरेज़ी के शब्दों में ही उसके विचार प्रकट होने लगते हैं। हिन्दी के सभी वर्तमान लेखक किसी-न-किसी मात्रा में इसी व्यसन से विवश हैं। विचार-प्रणाली पर प्रभाव के साथ-ही साथ भाव-ग्रहण की प्रणाली पर भी अंगरेज़ी का प्रभाव लक्षित है। हमारे वर्तमान हिन्दी कवि आर्य-संस्कृति के मूल में स्थित समन्वय की भावना को भुला बैठे हैं। निराश और संतप्त प्राणों को वेदना की भूमि से उठाकर अमर आशा के मनोरम प्रदेश में ले जानेवाला तुलसी का संदेश हमारे कवि विस्मृत कर बैठे हैं। अश्रुपूर्ण आँखों और आक्रांत अंतस्तल को अपने वेदनापूर्ण क्रंदनों से हमारे वर्तमान हिन्दी कवि और भी शोचनीय अवस्था में परिवर्तित करने का उपक्रम कर रहे हैं। वास्तव में हमारे साहित्य में आँसू की ऐसी कूल सीमा का अतिक्रमण करनेवाली धारा कभी नहीं बही थी।

शेली, कीट्स और बायरन का नीरव रोदन और कल्पना की उड़ानें हमारे वर्तमान हिन्दी कवियों को अपने से दूर बहा ले गईं। उनमें या तो वेदनामय होने का बनावटीपन है अथवा वह वेदना अपने ही स्वयं का रोना रोनेवाली है। उसमें न तो असंख्य पीड़ितों की पुकार है, और न निराशा में मुख लपेटे प्राणियों का रोदन और हाहाकार ही। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वर्तमान हिन्दी-कवियों में सभी इसी श्रेणी में परिगणित होते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा, प्रसाद जी, 'निराला' जी आदि हिन्दी कवि इस आक्षेप-आरोपण के अन्दर नहीं आ सकते। इन्होंने भी अपनी व्यक्तिगत वेदना व्यक्त की है, किन्तु उनमें अमर आशा की एक बड़ी उज्ज्वल ज्योति है। दूसरे, उनकी वेदना जनता की वेदनाओं की एक अनेक स्वरमिश्रित स्वर-लहरी है। जनता की वेदना का अभिप्राय है कि कवि में उसकी

अपनी निजी वेदना के भीतर भी एक ऐसा सार्वजनिक तत्त्व रहे जिसमें सभी अपनी मनोभावना की झलक देख सकें। महादेवीजी के गीतों को प्रत्येक व्यक्ति अपने निज की स्वर लहरी कह सकता है। दूसरे उनमें जीवन का व्यापक नी व्यापकता से मिलता है, जिसमें आश्वासन की एक अमर करुणा है—

मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना से।

पाश्चात्य कवि कभी समय की पुकार की अवहेलना नहीं कर सके, जनता के सुख-दुखों को नहीं ठुकरा सके; किन्तु हमारे कवि इन कवियों को नहीं समझ सके। वे उनके अंतःकरण को ग्रहण न कर बाहरी रूप पर ही मुग्ध हो गए। वे उनके जैसा अनुभव (feel) नहीं कर सके; किन्तु उनके जैसा बनने की चेष्टा करते रहे—केवल बाहरी रूप से नक़ल करके। यही अवस्था हमारे लेखकों की है। वे भी अधिकांश संख्या में जनता से दूर चले गए।

भाव-धारा के स्वरूप पर अँगरेज़ी का अनिष्टकारक प्रभाव नहीं, किन्तु वह अनिष्टकारक प्रणाली द्वारा ग्रहण किया गया है। किसी संस्कृति का प्रभाव अन्य संस्कृति पर अनिष्टकारक नहीं होता; केवल ग्रहण करने की प्रणाली ही उसे ऐसा बना देती है। जब तक उसके रहस्य और आंतरिक पक्ष तक ग्रहण करनेवाले की प्रतिभा नहीं पहुँचेगी तब तक उसके सुगंधित पौदों को अन्य साहित्य अपने उपवन में नहीं लगा सकता।

अँगरेज़ी द्वारा हम अपनी संस्कृति पर कुठाराघात कर चुके, किन्तु अँगरेज़ी से हमारे साहित्य की प्रकाश-प्रणालियों में विस्तार भी हो गया है। भावाभिव्यक्ति के अनेक नवीन मार्ग बन गए। उपन्यासों, कहानियों और गद्य-काव्यों का प्रचलन अँगरेज़ी द्वारा ही हुआ, जिससे हमारे साहित्य का काफ़ी विस्तार हुआ। किन्तु सबसे महत्त्व का लाभ हुआ गद्य-साहित्य का निर्माण। अँगरेज़ी के पहले हमारा गद्य-साहित्य नाम को भी नहीं था। वास्तव में अँगरेज़ी ने हमारे गद्य को जन्म दिया। गद्य का अभाव एक शोचनीय अभाव था। इसके लिए हिन्दीवाले अँगरेज़ी के सर्वदा अनुगृहीत रहेंगे।

अभिव्यक्ति-प्रणाली की विभिन्नताओं के साथ अनेक परिवर्तनों का भी हिन्दी साहित्य में अँगरेज़ी के सम्पर्क द्वारा समावेश हुआ। गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई, जिससे यद्यपि हम सूर, तुलसी के मार्ग से हट गए और अब उनके विचारों के इतने समीप नहीं जा सकते, किन्तु इससे एक बड़ा भारी लाभ यह हुआ कि काव्य-भाषा की एकता स्थापित हो गई। सूर की व्रज, तुलसी की अवधी, मीरा की राजस्थानी, केशव की बुंदेली और विद्यापति की मैथिली के विभिन्न रंगों पर एक रंग की छाप लग गई। विभिन्नता का स्थान एकता ने ले लिया। भाषा की

यह एकता भारत के हिन्दी-प्रांतों के निवासियों की एकता का मूल है। समय की बचत और परिश्रम का अभाव भी इससे हुआ। काव्य-रसिकों एवं विद्यार्थियों को कवि-विशेष के काव्य में अवगाहन करने के लिए उस कवि की भाषा-विशेष के अंतस्तल में पैठने का परिश्रम अब नहीं रहा। किन्तु इससे बड़ी भारी हानि भी हुई। प्रांतीय बोलियों का साहित्य से बहिष्कार हो गया। हम श्रेष्ठतर को पकड़कर श्रेष्ठ को भूल गए। बड़ी आवश्यकता के फेर में छोटी आवश्यकता का ध्यान ही न रखा। राष्ट्रीयता की दृष्टि से साहित्य भाषा की एकता श्रेयस्कर है, किन्तु हमारी वर्तमान साहित्य-भाषा में अपनापन नहीं। अपनापन है माता के द्वारा सिखाये अपने प्रांत के शब्दों में। अन्तर्प्रान्तीयता की वेदी पर हम अपने प्रांतीय स्वत्व को बलिदान कर बैठे। थोड़े दिनों में ये बोलियाँ हमारे लिए ग्रीक और लैटिन हो जायंगी और सूर, तुलसी वर्जिल तथा होमर।

हमारे प्राचीन कलेवर में भी अंगरेज़ी ने काट-छाँट की। काव्यों और नाटकों में मंगलाचरण, गणेश तथा इष्टदेव-वंदना सब लोप हो गई। प्राचीन कविगण देवताओं और अक्षरों से शकुन-अपशकुनों की सम्भावना करते थे। वह प्रवृत्ति भी नष्ट हो गई। नाटकों में भी नवीनताओं का प्रवेश हुआ। सूत्रधार प्रसंग, आकाश-वाणी आदि के स्थान पर अँगरेज़ी ढंग का 'प्रारम्भ' होने लगा। काव्यों में महा-काव्यों की परम्परा नष्ट-सी होने लगी। गीति-काव्यों का प्रचलन बढ़ चला तथा प्राचीन छंदों के स्थान पर नवीन छंदों और गीतों का आविर्भाव हुआ। Blank verse का समावेश अंगरेज़ी की ही देन है। छंदों की नवीनता से अभी तो कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, किन्तु भविष्य में इसके बड़े शोचनीय परिणाम होंगे। हमारा छंदःशास्त्र लोप हो जायगा। इस प्रकार हम अपने एक विकसित काव्यांग को खो बैठेंगे।

समालोचना शैली में भी परिवर्तन हुआ। अलकारों, लक्षणों तथा रस-भेदों की खोज के स्थान पर मनोवैज्ञानिक प्रणाली की सत्ता आरूढ़ हुई।

इस प्रकार अंगरेज़ी ने हमारे साहित्य की क्षतिपूर्ति भी की और पूर्तिक्षय भी किया। हम अपने से दूर चले। अपने पूर्वजों के अनुभव-भांडार को छोड़कर दूसरों के अनुभवों पर निर्भर रहने लगे। अँगरेज़ी से पूर्व किसी प्रसंग की परिपुष्टि के निमित्त कहावतें, उद्धरण तथा सुभाषित हम या तो संस्कृत से लेते थे या सूर, तुलसी आदि कवियों के ग्रन्थों से अथवा प्रांत-प्रचलित भांडार से; किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्यकार इनके लिए विदेशी साहित्य की सहायता मांगते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम अपने में ही निगूढ़ रहें। दूसरों से श्रेष्ठता ग्रहण करना गुण-ग्राहकता है; किन्तु अपने का तिरस्कार कर दूसरे की ओर दौड़ना कभी श्रेयस्कर

नहीं कहा जा सकता। यह तो यही हुआ कि अपने मूल को काटकर दूसरे के मूल पर अवलंबन पाने की धारणा करना।

इसके अतिरिक्त हम अपने साहित्य की—केवल साहित्य की ही नहीं, वरन् संस्कृति की—सनातन धारा को भी तिरोहित कर रहे हैं। हमारी संस्कृति आध्यात्ममूलक है। इस आध्यात्मिकता का स्थान आजकल जड़वाद या पदार्थवाद ले रहा है। पदार्थवाद की हमारे साहित्य में आवश्यकता है, किन्तु जड़वाद की यह विकराल लहर भयप्रद प्रतीत होती है।

साहित्य की भाँति हिन्दी-भाषा पर भी अँगरेज़ी का परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा है। भाषा में अभिव्यक्ति की शक्ति बढ़ती जा रही है। नये-नये प्रयोगों से भाषा का भाव-प्रकाशन का भांडार परिवर्द्धित होता जा रहा है। नवीन शब्दों का आवश्यकतानुसार आविर्भाव होता जा रहा है जो शब्द-भांडार को उन्नत बनाने का एक सफल प्रयत्न है। कविता के अनेक शब्द और शब्द-समुच्चय सीधे अँगरेज़ी से अनूदित हैं। गद्य में अधिकतर इस नवीन धारा के लेखक तो पूर्णतया अँगरेज़ी गद्य की शैली के आधार पर अपने भावों को व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रकार व्याकरण के स्वरूप को अँगरेज़ी ने काफ़ी परिवर्तित किया है। परिणाम अभी नहीं तो भविष्य में यह होगा कि हमारी भाव-प्रकाशन-शैली अँगरेज़ी-शैली का देवनागरी लिबास में एक नया रूप बन जायगी, जो हमारी मौलिकता न रहकर, विदेशी संस्कृति से निःसृत 'पराई चीज़' ही प्रतीत होगी। हमको भाषा का विकास करना है, उसमें आवश्यकतानुसार सुधार करना है, किन्तु अपनी शैली पर, अपनी ही मौलिक उद्भावना पर। शब्द-समूह के परिवर्द्धन का लाभ बड़ा भारी लाभ है, किन्तु इसकी महत्ता तभी प्रतीत होगी जब कि हम यह विचार कर लें कि प्राचीन काल में या तो कदाचित् हम विचार-शक्ति में इतने उन्नत नहीं थे, विचार व्यक्त करने के उपयुक्त शब्द हमारे कोष में नहीं थे, या यह कि हम उस कोष को खो बैठे। यदि वास्तव में हम विचार-शक्ति में हीनतर थे या विचार-अभिव्यक्ति के लिए हमारे पास पर्याप्त कोष नहीं था तो अवश्य अँगरेज़ी का यह प्रभाव हमारे लिए वरदान है। किन्तु यह बात नहीं है। हमारे कवि, हमारे दार्शनिक, इन गुणों से हीन नहीं थे; हमारी भाषा का कोष उपयुक्त शब्दों से रिक्त नहीं था। दोष है हमारी प्रवृत्ति का, हमारे बंधनों का और परिणामस्वरूप में हमारी शिक्षा का और वातावरण का।

विराम चिह्नों का नया समावेश जो हमारी भाषा में हुआ, वह भी अँगरेज़ी के प्रभाव को पूर्णतया प्रकट करता है। कॉमा, सेमी-कोलन, कोलन आदि चिह्नों का

हमारी भाषा में अभाव था । इनके प्रवेश से भाषा में प्रवाह की मात्रा बढ़ गई तथा साथ-ही-साथ भाव-ग्रहण करने में भी सुविधा हुई ।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य का वर्तमान स्वरूप अँगरेज़ी का कुछ ही परिवर्तित स्वरूप प्रतीत होता है । अन्तर है केवल लिपि का तथा थोड़ी-सी शेष बची भारतीयता का । साहित्य का प्रत्येक अंग और भाषा भी प्रत्येक शिरा अँगरेज़ी से प्रभावित हुई, जिससे साहित्य और भाषा की शक्ति बढ़ने के साथ-ही-साथ अनेक संक्रामक रोग भी आ गए । इस समय आवश्यकता है सतर्कता की तथा नीर-क्षीर विवेक के साथ आगे बढ़ने की ।

१७

साहित्यिक अराजकता

आजकल हिंदी साहित्य में एक प्रकार का घपला सा फैला हुआ है। लोग छायावाद, रहस्यवाद एवं काव्य के अन्य सभी अंगों का मूलोच्छेदन कर देना चाहते हैं और चाहते हैं कि कवि लोग कलम व कल्पना को छोड़कर अब हँसिया एवं हथौड़ा की शरण लें। इस बढ़ती हुई भाव-धारा का एक ही अर्थ मेरी समझ में आता है। लोग सोचते हैं कि आखिर इस पिछड़े देश में भी तो चहल-पहल रहनी ही चाहिए। विशेष कर जन्म के अभागे वे लोग जो अपने जीवन का भार सुन्दर सपनों से भी नहीं हल्का कर पाते, बहुत घबराते हैं और कवि को अपनी कल्पना की उड़ान के साथ स्वप्नलोक में सानन्द विचरता हुआ देखकर और भी दुःखी होते हैं और अपनी तरह कवि को भी अपने पास घसीट लाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को यह नहीं मालूम है कि सारा संसार नष्ट हो जाने पर भी कवि का स्वप्न तथा उसकी कमनीय कल्पना अपने सूक्ष्म कलेवर के साथ मन की कामनाओं को लिये वायु-तरंगों के साथ विद्यमान रहती है। साम्यवाद की श्रवण-सुखद त्योरियों से प्रभावित लोग आजकल के कवियों को खूब फटकार बताते हैं और सबको प्रति-क्रियावादी तथा सामंतवादी तक कह डालते हैं। और तो और, कवियों को व्यर्थ का बक्की तक कहते हैं। पता नहीं, क्या साम्यवाद में गाली देने की स्वतंत्रता का अनर्गलवाद भी सम्मिलित रहेगा? यह हमारे साहित्य कोतवालों को जान लेना चाहिए कि समाज जिन विशेष विषयों का उत्पादन तथा परिचालन साहित्य के माध्यम से कराना चाहता है वे कभी सफल नहीं होते, क्योंकि तब वह गम्भीर राजनीतिक विषय न रहकर कवियों की कल्पना तथा स्वप्न की चीज बन जाते हैं। उन्हें आम जनता कोरी भावुकता समझकर छोड़ देती है, क्योंकि हर कोई कवि नहीं हो सकता और न कवि की सुकुमार मनोवृत्तियों को समझ ही सकता है। यह सभी को विदित है कि जब फ्रांस में राज्यक्रांति हुई थी, तब उसकी विचार-धारा ने प्रायः सम्पूर्ण यूरोप को अपने में समेट लेना चाहा था। इंगलैंड में भी इन विचारों का प्रभाव पड़ा और वहाँ धनी-मानी तथा विशेषकर शासनाधिकारी लोग बहुत घब-

राने लगे कि इंगलैंड को भी वह दिन न देखना पड़े। तब वहाँ के एक साहित्यिक राजनीतिज्ञ ने बताया था कि यदि इंगलैंड की सरकार तथा जनता इस खतरे से बचना चाहती है तो उन्हें चाहिए कि वह अपने कवियों तथा कलाकारों को बाध्य करें, प्रलोभन दें, कि वे इस क्रांति का पक्ष लेकर अपनी कविताओं एवं लेखों में इसका समर्थन तथा प्रचार करें। लोगों ने पहले इस बात की बड़ी हँसी उड़ाई, मगर उस विद्वान के समझाने पर राजी हो गए और वैसा ही किया गया। फिर क्या था, उसका प्रचार साहित्य के द्वारा होना शुरू हुआ; ज्यों-ज्यों उक्त विषय कवियों के हाथ आता गया त्यों-त्यों आम जनता उसे कवि का खेल समझकर उससे दूर होती गई और इंगलैंड एक विशेष खतरे से बच गया। प्रचार तथा प्रसार तो उन विषयों का हो सकता है जिन्हें समाज ने खुद अपनाया हो और कवि तथा कलाकार स्वय समाज की रुझान उसमें देखकर उसे बिना किसी दबाव के अपना लें; क्योंकि कवि भी तो समाज के भीतर की वस्तु है। उसकी कल्पना भी प्राकृतिक चित्रों तथा सांसारिक अनुभूतियों से ही सम्बन्ध रखती है। समाज की झलक कवियों में, या यू कहा जाय कि साहित्य में, अपने आप मिलती है जैसे नदी के किनारे के वृक्षों की छाया स्वच्छन्द सरिता प्रवाह में। यह तो एक सनातन साहित्यिक सत्य है।

इस उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि भी अपनी कल्पना तथा कविजनोचित प्रतिभा छोड़कर हँसिया-हथौड़ा का राग भारत में गाने लगें और अपने स्वप्नलोक में विचरना छोड़ दें तो इसका क्या फल होगा? वही जो इंगलैंड में हुआ था। समाज की उन्नति के लिए कवियों पर दबाव हमेशा विपरीत फल देता है। हाँ, केवल मानवता का सम्बन्ध संसार से आहार-विहार में पशुवत् रह जायगा और कवि के सभी स्वप्न नष्ट हो जायँगे। तमाम लोग अपने काम से काम रखेंगे और संसार पुनः अपने प्राचीन रूप में पहुँच जायगा, जहाँ न कवि होंगे, न कल्पना होगी, न सुकुमार स्वप्न होंगे और न होगा कोई मानसिक विश्राम का साधन। तब मनुष्य का जीवन-संघर्ष जो अभी भी बहुत कठिन है और भी भारी और नीरस हो जायगा। ससार में राग विराग का तथा सौन्दर्य-सुषमा का दर्शन न होगा। तब एक बार फिर संसार अपने जीवन से ऊब उठेगा और केवल कवि की तलाश पागलों की भाँति करेगा और उसको शांति भी तभी मिलेगी। मनुष्य के जीवन में नित्य ऐसे कुछ क्षणों की आवश्यकता रहती है जब वह स्थूल जीवन की घटनाएँ कल्पना की मनोहर सृष्टियों में भुला दे।

इस बात को सभी जानते हैं कि कवि लोग संसार की सम्पूर्ण जनता के अनचाहे गाइड होते हैं और सभी गाइड यह समझते हैं कि उनका कल्याण जनता

का कल्याण है। प्रत्येक कलाकार की यह कामना होती है कि उसकी स्मृति, उसका आधिपत्य, जनता पर, समाज पर अधिक-से-अधिक समय तक रहे; उसकी साधना की यही अन्तिम कामना है। कहने के लिए तो सभी कह सकते हैं कि हमारी कला का उद्देश्य केवल 'स्वान्तः सुखाय' है। इस 'स्वान्तः सुखाय' के अलावा एक सम्प्रदाय है जो 'कला कला के लिए' का मानने वाला है। एक दूसरे दल का भी नया जन्म हुआ है जो कि केवल उपयोगी साहित्य-सृष्टि का पक्षपाती है। हम समझते हैं कि साहित्य के इन तमाम वादों का सुन्दर समन्वय होना चाहिए, क्योंकि केवल आनन्द मात्र से ही समाज तथा जीवन उन्नत नहीं हो सकता और न केवल सूखे उपदेशों से आनन्द ही मिल सकता है। अस्तु, साहित्य में दोनों का उचित मात्रा में होना आवश्यक है। कवि की कविता को स्थूल जीवन की तर्कणापूर्ण ईकाई से देखना भी मूर्खता है; साथ ही स्थूल जीवन के आधार के बिना काव्य भी व्यर्थ है। साहित्य का आदर्श वास्तव में पतंग की तरह होना चाहिए कि वह रहे तो आकाश में किन्तु पृथ्वी से सूक्ष्म डोरी द्वारा सम्बन्धित रहे। आजकल इस साधारण-सी बात को लोग नहीं समझ रहे हैं और साहित्य को रसातल भेजने को ठान लिए हैं।

अस्तु, वर्तमान हिन्दी साहित्य के उद्धार तथा प्रचार के लिए इस बात की आवश्यकता है कि लोग अपनी मौलिकता की झक में व्यर्थ की बातों का प्रचार न करें और साहित्य ऐसी व्यापक वस्तु को अपने मन के संकीर्ण दायरे में बाँधने का प्रयत्न न करें, वरन् उसमें सुरुचि तथा सनातनता का समावेश करने का प्रयत्न करें। यूँ तो कहनेवालों ने प्रकृति की सृष्टि को भी 'गुण अवगुण साना' कह डाला है, तब मनुष्य कृति की बात ही क्या है? फिर यह भी सच है कि सबमें कुछ-न-कुछ अपूर्णता तो रहती ही है। अतः यह काम आलोचकों का है कि जनता तथा साहित्य को सुपथ का संकेत करें। आलोचकों को उचित है कि अपनी उत्तर-दायित्वपूर्ण आलोचना से समाज और साहित्य में सामजस्य बनाये रखने की चेष्टा करते रहें। हम आलोचकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं, क्योंकि इस समय साहित्य में एक प्रकार का तूफान-सा आया है और बहुत-से अनधिकारी लोग इसका बुरा लाभ उठाकर व्यर्थ की बातों का प्रचार तथा प्रयत्न कर रहे हैं, जो हमारे साहित्य तथा समाज के विश्राम की अपेक्षा विनाश का कारण होगा, इसमें संदेह नहीं। हम सबको इस साहित्यिक अराजकता का अन्त करना चाहिए। आज तक संसार के किसी भी दो विद्वानों का मत काव्य की परिभाषा तथा उसकी उपयोगिता में एक नहीं रहा और न भविष्य में हो सकता है, किन्तु कुछ काव्य-गत सिद्धान्तों में सभी एक मत हैं। यह सभी मानते हैं कि कविता तो वही है

जिसकी तह में कवि का एक सकल्पात्मक सन्देश हो, जो कल्पना के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य को मानव-जीवन के सुख-दुःखों को, और विश्वव्यापी उन्नत भावों को कवि के अनुभूत हृदय-रस के साथ मिलाकर पाठक को आनन्द-विभोर कर दे। इसके अलावा कविता की दूसरी परिभाषा ढूंढ़ना और कवियों को किसी विशेष विषय पर लिखने को बाध्य करना मन्दिर में जाकर प्रधान मूर्ति स्पर्श न करके अगल-बगल के पत्थर टटोलना है।

हम कभी सुन्दर फूल की परिभाषा और व्याख्या नहीं करते, वरन् उसके सौन्दर्य में मुग्ध हो जाते हैं। सुन्दर सांध्य गगन में उड़ती हुई विहगावलियों के कलरव का उद्देश्य जानने की जड़ता का सम्भवतः किसी ने भी अनुभव न किया होगा। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि हम काव्य को प्रकृति सृष्टि का एक विशेष व्यवधान मानकर उसकी सौन्दर्यानुभूति-मात्र से ही संतुष्ट हो जायें और उसका विश्लेषण तथा विवेचन न करें, परन्तु मानव मन की इस सुकुमार अभिव्यक्ति का परिवेक्षण कोरी विज्ञान की शुष्कता से भी सम्भव नहीं, उसे न भूलें। आज से नहीं सनातन काल से साहित्य का, काव्य का, एक चरम उद्देश्य तो सामने है ही और वह है सत्यम् शिव सुन्दरम्। इस परमोद्देश्य के साथ-साथ कविता का उद्देश्य जीवन के मार्मिक पहलुओं की अभिव्यजना भी है। यही कारण है कि किसी भी कमनीय कविता के श्रवण या पठन से हमारा हृदय एक अपार्थिवता से सरस सजल हो उठता है और हम काव्य कला का आनन्द सहज ही पा लेते हैं। इसीलिए कविता को लोकोत्तर आनन्द देनेवाली विभूति माना गया है। कवि अथवा काव्य की आलोचना जितनी सहज सी मान ली गई है उतनी है नहीं। कवि को वास्तव में यथार्थता, अपार्थिवता एव आदर्शवादिता के सुन्दर समन्वय का प्रतिपल ध्यान रखना पड़ता है और इसकी पूर्ति वह कल्पना के पवन पंखों पर सौंदर्याकाश में उड़कर ही कर सकता है। कितना कठिन है कवि कर्म! शुभ श्री महादेवीजी के शब्दों में—कवि न इतिहासकार है, जिसका काम घटनाओं का एकत्रीकरण हो, न कर्तव्य-शास्त्रकार जिसको 'कहना चाहिए' के विश्लेषण से सम्बन्ध हो। वह तो हमारे अपूर्ण जीवन के पास एक अधिकारपूर्ण, अधिक सुन्दर जीवन का चित्र बनाकर उसी ओर इंकित-मात्र करके छोड़ देता है। हम उस चित्र में अपने-आपको देखकर अपनी अपूर्णता की स्मृति से व्यथित और पूर्णता की आशा से उत्फुल्ल हो उठते हैं। कवि अपने युग की सृष्टि भी है स्रष्टा भी। काव्य की इस महत्ता के कारण ही हमारे धर्म और नीति इत्यादि को कविता के रूप में आना पड़ा और कवि की हमें पद-पद पर आवश्यकता पड़ती रही। समृद्धि के समय यदि उसकी कविता ने कलियों पर सोकर सुनहले स्वप्न देखना सिखाया हो तो युद्ध के समय

तलवार की धार पर चलना भी उसी ने सिखाया। आसक्ति में उसने यदि जीवन में मदिरा डाल दी, तो विरक्ति के समय शांति की सुधा पिलाना भी उसी का काम था; दूसरे के दुःख में यदि करुणा से पिघल जाना उसने बताया तो कर्तव्य के समय पत्थर हो जाने का उपदेश भी उसी से मिला; संसार का पथ यदि उसने प्रशस्त किया, तो परलोक-मार्ग भी उसीने खोज निकाला—यह है कवि की रूप रेखा।

यह बात अब और भी अधिक स्पष्ट हो गई कि कवि पर किसी प्रकार का आरोप लगाना कितनी निर्ममता है, जड़ता है और पागलपन से भरा पशुत्व है।

मेरी समझ में तो कवि तथा कविता का जन्म ससार की कठोरता तथा बर्बरता को कम करने के लिए होता है; उसकी गति स्वतन्त्र एवं अपने में पूर्ण होती है। ससार बिना सरस काव्य के आज निर्दय पशु होता। जो सरसता, सुकुमारता, तथा स्निग्धता की हम स्वर्ग में कल्पना करते हैं वह सब कविता में होती है। कविता के उपकरण हैं आभा पवित्रता, स्वर्गीय आनन्द एव अटूट प्रेम। अस्तु, लोगों को चाहिए कि वे अपनी गाय प्रकृति के परिणामस्वरूप कवियों को गाली न देकर उनकी कविता का सहृदयता से मनन करें, क्योंकि मानव-जीवन की कविता ही एक ऐसी सरस संगिनी है जो कि अपनी सहधर्मिणी की भाँति प्रसन्नताप्रद एवं उत्साह-वर्द्धिनी सिद्ध होगी।

कवि और कविता पर कुठाराघात करना कुरुचि और कर्कशता का द्योतक है।

१८

समालोचना

जिस प्रकार कविता एक कला है, उसी भाँति समालोचना भी एक कला है। कविता जीवन की कला है और साहित्य के अन्तर्गत है, इसलिए आत्मा की भी कला है। समालोचना साहित्य की कला है, जिसमें जीवन तथा आत्मा दोनों सम्मिलित हैं। अत: काव्य-कला तथा साहित्य के किसी अंग-विशेष की कला से उसका महत्त्व अधिक है। कला साधारणतया जीवन की अभिव्यक्ति है और विशेष सूक्ष्म रूप में आत्मा की व्यंजना है। समालोचना कला की विश्लेषणी व्याख्या है। कला क्या है, कला क्या होनी चाहिए, कला कैसी है, और कैसी होनी चाहिए, कला का क्या उद्देश्य है और क्या होना चाहिए, आदि स्वाभाविक प्रश्नों पर विचार करने की चेष्टा तथा क्रिया इस कला की कर्मभूमि है। समालोचना हमारे सामने किसी भी कला एव साहित्य का सच्चा स्वरूप उपस्थित कर देती है। प्रस्तुत कला के नमूने अथवा साहित्य की कृति के समस्त गुण-दोषों को अलग-अलग करके समालोचना उसके शरीर तथा आत्मा का पूरा विवरण हमारे सामने बिखेर देती है।

कविता, कला तथा जीवन की कोई परिपूर्ण परिभाषा नहीं। सदैव से इनको परिभाषा की सीमित क़ैद में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु अभी तक कोई सम्पूर्ण गुणों को दरशानेवाली परिभाषा के मूल तक नहीं पहुँच पाया। अंगरेज़ी का प्रसिद्ध समालोचक 'मैथ्यू आरनाल्ड' (Matthew Arnold) समालोचना की परिभाषा करते हुए कहता है कि 'संसार के सर्वोच्च ज्ञान एवं विचार के जानने और उसके प्रचार करने का निर्लिप्त प्रयत्न ही समालोचना है।'

'आरनाल्ड' के कथनानुसार समालोचना का उद्देश्य है प्रथम तो ज्ञान एवं विचार के प्राप्त करने की साधना तथा दूसरे इस प्राप्त सिद्धि का समाज में वितरण करना। साधना तथा वितरण दोनों के प्रयत्न में किसी भी प्रकार की सतुलन-कमी नहीं होनी चाहिए। यह प्रयत्न उसी साधना के विमुक्त भाव से हो जिसको गीता में 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' के नाम से कहा गया है, अर्थात् अपना व्यक्तिगत राग-द्वेष इस

प्रयत्न पर अपना भला अथवा बुरा रंग न चढ़ावे, वरन् साधक के मन में एक ऐसा उदासीन (disinterested) भाव रहे जिसमें उसे अपने विचार आरोप करने की इच्छा न हो। समालोचक 'आरनाल्ड' (Arnold) की परिभाषा वास्तव में सुन्दर एवं व्यापक है और समालोचना के असली स्वरूप की ओर काफ़ी स्पष्ट निर्देश करती है ; किन्तु वह एकदेशीय एवं बड़ी ऊँची है। एकदेशीय इस विचार से कि वह केवल एक ही उद्देश्य को लेकर चलती है। वह उद्देश्य है ज्ञान एवं विचार की उपलब्धि। ज्ञान एवं विचार की उपलब्धि तो अध्ययन से और मनन से भी हो सकती है, और वास्तव में इनकी उपलब्धि के मूल साधन अध्ययन और मनन ही हैं ; फिर उसको क्यों समालोचना का नाम दिया जाय ? ज्ञान और विचार समालोचना के मूल तत्त्व नहीं, ये तो गौण वस्तुएं है। उसका मूल तत्त्व है गुण और दोष का निरूपण तथा उच्छृंखल गति के कलाकार को पथ-प्रदर्शन। 'आरनाल्ड' की परिभाषा इस प्रकार उपयोगिता की वेदी पर मूल तत्त्व का बलिदान कर देती है। उसमें दूसरा एकदेशीयपन उसके प्रचार-प्रयत्न में है। प्रचार करना कला का उद्देश्य नहीं ; उसका उद्देश्य तो है प्रदर्शन करना। प्रचार तो एक गौण प्रवृत्ति है। एकदेशीयता के अतिरिक्त 'आरनाल्ड' की परिभाषा में एक बड़ी ऊँची कल्पना है जिस तक साधारण मानव नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त उसमें एक असम्भव-सा शासन है। कोई भी कलाकार एवं लेखक, यदि वह वास्तव में सच्चा लेखक एवं कलाकार है, तो वह अपने व्यक्तित्व से अलग होकर नहीं रह सकता। उसकी कृति के एक-एक वाक्य में उसका व्यक्तित्व उबलता-सा प्रस्फुटित रहेगा। अतः समालोचक निर्लिप्त नहीं रह सकता। मूलतः 'आरनाल्ड' की परिभाषा का क्रीड़ा-क्षेत्र कल्पना की ऊँची उड़ान ही है, क्योंकि व्यवहार-क्षेत्र में 'आरनाल्ड' स्वयं भी अपनी परिभाषा को चरितार्थ नहीं कर सका।

उपर्युक्त वाक्यों से समालोचना का सच्चा स्वरूप दृष्टिगत हो जाता है। संक्षेप में समालोचना कला, साहित्य तथा जीवन में अथवा जहाँ भी कहीं सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का आभास निहित है, उसकी खोज, विश्लेषण तथा व्यंजन करती है। प्रत्येक कला और साहित्य की आत्मा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के अभिनव तत्त्व से आलोकित रहती है। इस आलोक का निरन्तर अन्वेषण तथा इसके स्तरों का पृथक्करण एवं समस्त अस्त-व्यस्त सामग्री का संश्लेषणात्मक अभिव्यंजन—यही समालोचना की चरम साधना है। समालोचना के इन तीन तत्त्वों में कला के तीन क्रम निर्दिष्ट हैं ; मोटे तौर से ये तीन क्रमिक सीढ़ियाँ हैं, जिन पर विकासोन्मुख समालोचक को चढ़ना होता है। भक्त जिस प्रकार आराध्य की

सिद्धि के लिए किसी निर्धारित साधना का अवलम्बन ग्रहण करता है, उसी भाँति समालोचक भी अपने चरम साध्य के लिए इस त्रिगुणात्मक साधन को पकड़ता है।

यह एक प्रकृत-सी बात हो गई है कि प्रत्येक देश के साहित्य में काव्य-ग्रन्थों की समालोचना अधिक मिलती है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा काव्य ही प्रथम प्रादुर्भूत हुआ। हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य ही क्या, पाश्चात्य साहित्य में भी यही प्रतिध्वनि है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पहले समालोचना का क्षेत्र काव्य-समीक्षा तक ही सीमित था। काव्य की परिभाषा, काव्य का स्वरूप, काव्य की साधना आदि विषयों पर ग्रंथ निर्माण करने के उपरान्त ही समालोचना का जन्म हुआ। काव्य के तत्त्वों का निरूपण तथा उसके अन्तर्गत गुणों और दोषों का विवेचन—यही पहले समालोचना का लक्ष्य था। धीरे-धीरे साहित्य के अन्य अंगों का प्रणयन होने के साथ-ही-साथ तद्विषयक समालोचनाएँ भी आकारबद्ध होती गईं। समालोचना का यह क्रमिक विकास कितना स्वाभाविक एवं मधुर है! पहले उसने साहित्य-वृक्ष के पुष्पजाल को पकड़ा, फिर पत्तों तथा शाखाओं का दिग्दर्शन किया। माधुर्य से प्रारम्भ होकर दार्शनिक गांभीर्य में डूबना एक बड़ी व्यापक एवं महती साधना है। समालोचना के इसी प्रकृत एवं आदर्श विकास में समालोचक का पथ प्रच्छन्न है। समालोचक बनने से प्रथम उसे 'मधुर' बनना है। अपने जीवन-संघर्ष की जटिलता में उसे एक प्रकृत रस का समावेश करना है, वह है हृदय की भावात्मक सहानुभूति। बिना इस रागात्मक सहानुभूति के समालोचक किसी भी लेखक के हृदय का 'मधु' तत्त्व नहीं ग्रहण कर सकता। सहानुभूति का कंपन बड़ा व्यापक है, उससे हृदय हृदय में एक आत्मीय ग्रंथि बँध जाती है—पराये अपने हो जाते हैं, और मानव के अन्तस्तल की सारी संचित सौरभ आँखों के सामने बिखर पड़ती है। बिना मधुरता की साधना के समालोचक किसी भी लेखक के भाव क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। लेखक, कवि एवं कलाकार की कला उसकी अपनी अनुभूतियों की अभिव्यंजना है; कला मानवीय अनुभूति के बाह्य संस्करण के अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः इस अनुभूति की व्यंजना तक अपनी अनुभूति द्वारा ही पहुंचा जा सकता है, अनुभूति की व्यंजना के सूक्ष्म तत्त्वों को बिना सहकारिणी अनुभूति की सहायता के नहीं स्पर्श किया जा सकता। सहानुभूतिहीन समालोचक की समालोचना वास्तविक समालोचना नहीं; या तो वह कला के बाहरी अनावश्यक प्रसंगों का सारहीन विवरण-मात्र होगी अथवा लेखक के विचारों को अपनी विचार-धारा की कसौटी पर कसने की बरबस चेष्टा। यही तो कला की हत्या है। ऐसा

समालोचक समालोचना न लिखकर केवल लेखक के दोषों को बहुगुणित करके कीचड़ छिड़कने का ही निकृष्ट प्रयत्न करता है।

समालोचक का दूसरा आवश्यक अंग है उसका शास्त्र-ज्ञान। बिना शास्त्र ज्ञान के न तो समालोच्य-ग्रंथ एवं कला के गुणों का प्रतिपादन हो सकेगा और न उसकी आवश्यकता का ही निर्देश किया जा सकेगा। शास्त्र-ज्ञान का अभिप्राय केवल तद्विषयक शास्त्र-ज्ञान से ही नहीं है, वरन् उसमें जिस काल एवं देश का समालोच्य ग्रंथ है, उस काल एवं देश की विचार-परम्परा तथा संस्कृति धारा का अध्ययन और साहित्य के भीतर आनेवाले सभी ज्ञान-वाद का सूक्ष्म मनन भी अत्यावश्यक है। कवि, लेखक एवं कलाकार अपनी प्रेरणा में केवल एक ही ज्ञान अथवा विचार को ही धारण नहीं किये रहते, किन्तु उस एक मूल भावना के साथ-साथ अन्य सहकारिणी भावनाएँ भी चलती रहती हैं। समालोचक को अपनी समालोचना में इन सहकारी भावनाओं को भी लेना चाहिए, क्योंकि इनके सूक्ष्म निरूपण के बिना अकेली मूल भावना का विवेचन अधूरा ही रह जायगा। इस पूर्ण विवेचन के लिए विविध अध्ययन एवं मनन की आवश्यकता है। साहित्य जीवन की कला है, आत्मा की सौरभमयी कलिका है; अतः जीवन के क्षेत्र में प्रस्थित समस्त ज्ञान-विज्ञानों तथा स्थूल दार्शनिक सत्यों का परिज्ञान समालोचक की सफलता के लिए परम वांछनीय है। उसे काव्य के भावुक क्षेत्र से लेकर मनोविज्ञान के शुष्क क्षेत्र तक पर्यटन करना पड़ता है। तभी वह लेखक के मानव-सुलभ भावों और मनोविकारों तक पहुच सकेगा।

तीसरा समालोचक का प्रमुख तत्त्व है नीर-क्षीर-विवेक का भाव। समालोचक एक प्रकार का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लेकर चलता है; उसका पथ बड़ा सकीर्ण एवं कठिन है। उसका पथ ठीक उस पथिक के पथ के सदृश है, जिसके दोनों ओर विकट विपत्ति की सामग्री है। 'एक ओर जमुना गहरी और एक ओर सिंह-गर्जन'। दोनों ओर उसके लिए प्राण-संकट है। समालोचक का पथ भी इसी प्रकार दो संकटापन्न क्षेत्रों के बीच से चलता है। इसके एक ओर गुण है और दूसरी ओर दोष। समालोचक को दोनों के मध्य से जाना पड़ता है, किन्तु उसकी दृष्टि दोनों ओर रहती है। वह गुण भी देखता है और दोष भी। अंगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक 'रस्किन' ने समालोचक का कर्त्तव्य एक न्यायाधीश के कर्त्तव्य के तुल्य बतलाया है। जिस प्रकार न्यायाधीश को क़ानून के नियमों के अनुसार निष्पक्ष निर्णय करना होता है, उसी प्रकार साहित्यिक न्यायालय के न्यायाधीश समालोचक का भी कर्त्तव्य है। इस कर्तव्य से विमुख आलोचक आलोच्य विषय को ज्ञान-तुला पर ठीक-ठीक नहीं तोल सकता। इसकी उदासीनता से आलोचक

छिद्रान्वेषी एवं पक्षपातमय हो जाता है। समालोचना में दलबंदी, आत्म-विज्ञापन और पारस्परिक वैर-प्रतिशोध इसी दूषित प्रवृत्ति के प्रतिफल हैं, जो कभी-कभी व्यक्तिगत गाली-गलौच का भी स्वरूप बन जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समालोचना का मार्ग कितने कटकों से परिपूर्ण है, उसके ऊपर कितने बड़े उत्तर-दायित्व हैं।

यह तो हुई समालोचक की आवश्यक गुणावली। अब समालोचना के गुणों की ओर भी कुछ दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है। आलोचना का पहला और सबसे अपेक्षित गुण है प्रस्फुटन, अर्थात् उससे पाठकों के हृदयों में वही अवस्था उत्पन्न हो जाय जो कि आलोचना लिखते समय आलोचक के हृदय में थी। यही समालोचक की कला की अंतिम परीक्षा है। दूसरा गुण है प्रकटीकरण, अर्थात् किसी रचना से जो भावना उदित हुई उसका स्वाभाविक प्रकटीकरण। तीसरा गुण है भाषा-शैली की प्रगल्भता, अर्थात् भावों के अनुकूल ही भाषा का कलेवर हो; प्रत्येक शब्द अपने-अपने स्थान से प्राण-प्रवेग प्रवाहित करनेवाला हो और सामूहिक रूप में सब मिलकर एक ही ध्वनि के तार से झंकृत हों। इन तीनों गुणों में समालोचना की परिपूर्ण आत्मा उतर आती है और सम्प्रतिभावना का एक सुष्ठु स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

यूं तो हिन्दी-साहित्य में अन्य अंगों में भी अभाव कम नहीं है, किन्तु समालोचना का अभाव सबसे अधिक शोचनीय एवं विचारणीय है। वास्तव में यदि हिन्दी-साहित्य का कोई अंग अपांग है तो वह है समालोचना का। हिन्दी-साहित्य में समालोचना की देन गद्य के विकास का वरदान है। वैसे तो समालोचना का अस्तित्व हिन्दी-साहित्य में बड़ा प्राचीन है। भक्ति-काल के कृष्ण-भक्त कवियों ने तत्कालीन कृष्ण साहित्य की पद्यानुबद्ध विवरणात्मक आलोचनाएँ लिखीं। उसके पश्चात् रीतिकाल की काव्य-कृतियाँ तो पूर्णतया आलोचनात्मक तत्त्व से परिपूर्ण हैं। रीतिकाल के कवियों की चरम साधना सम्पूर्ण आराधना, नायक-नायिका भेद, रस-निरूपण, अलंकार-दर्शन तथा पिंगल-प्रबोध में ही समाप्त हो जाती है। ये पद्य-बद्ध पुस्तकें एक ओर तो काव्य के भावात्मक छोर को स्पर्श करती हैं और दूसरी ओर काव्यांगों की सूत्र रूप में मार्मिक व्याख्या करती हैं। आलोचना की यह शैली एक निजी वस्तु है। इसका तत्कालीन काव्य-कला पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ा—उसका बाह्यावरण खूब सज-धज गया। अक्सर इन कृतियों पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उनमें बाह्य चमक-दमक ही है, आंतरिक तत्त्व कुछ भी नहीं। यह दोषारोपण ठीक भी है, किन्तु इसके अस्तित्व का सम्पूर्ण दोष काव्यांगों को

ही मान लिया जाय, यह एक अन्याय है। जब काव्य-ग्रथ ही काव्यत्व से रिक्त हों तो काव्यांग उसमें किस प्रकार काव्य की आत्मा अनुप्राणित करें ?

इसके पश्चात् हिन्दी में गद्य का विकास होता है। गद्य का विकास हिन्दी में एक परम महत्त्व की वस्तु है। उसके साथ साथ हिन्दी में अनेक नवीन-नवीन विषयों का प्रतिपादन हुआ। यदि सच पूछा जाय तो यहीं से साहित्य के परिपूर्ण युग का विकास होता है। भारतेंदु का उदय आध्यात्मिक रूप से साहितेंदु का अपनी पूर्ण कला में उदय था। हिन्दी का पहला पत्र 'कविवचनसुधा' प्रकाशित हुआ तथा भारतेंदु के प्रयत्न से अन्य पत्रों का जन्म हुआ। मुख्यत: ये पत्र कविताओं तथा कुछ सामयिक विषयों से ही परिपूर्ण रहते थे ; किन्तु अनेक बार इनमें आलोचना के अच्छे-अच्छे निबन्ध भी निकला करते थे। वास्तव में हिन्दी-गद्य की प्रथम आलोचना 'कविवचनसुधा' में ही मिलती है। अपनी साहित्यिक गोष्ठी में भारतेंदु बाबू संलाप रूप में अनेक विषयों की आलोचना-प्रत्यालोचना किया करते थे। उसका कोई उल्लेख (record) आज उपलब्ध नहीं ; निश्चय वह एक महत्त्व की वस्तु होती। इसी काल में 'प्रेमघन' ने समालोचनाएँ लिखीं। पं० तोताराम के भी एक दो समालोचनात्मक निबन्ध मिलते हैं। ये सब आलोचनाएं काव्य की ही थीं, क्योंकि अन्य विषयों के प्रणयन का तो इस काल में केवल सूत्रपात ही हो पाया था; अभी तो इस नवीन साहित्यिक जागृति के मुख पर शैशव का ही चापल्य था, प्रौढ़त्व का प्रशान्त तत्त्व नहीं।

किन्तु हिन्दी के विकसित गद्य में आलोचना लिखनेवाले हिन्दी के प्रथम प्रणेता हैं मिश्रबंधु। आलोचना की दृष्टि से उन्हें उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी उन्हें आलोचना की सामग्री एकत्र करने में मिली। उनकी आलोचना का एक अलग ही स्वरूप है ; नामकरण के लिए हम उसे इतिहासात्मक (ऐतिहासिक नहीं) समालोचना कह सकते हैं। इस प्रकार की आलोचना न तो निर्णयात्मक होती है और न विश्लेषणात्मक, यह अन्वेषणात्मक ही होती है। अत: इस क्षेत्र में मिश्रबंधुओं की साहित्य-सेवा एक महत्त्व की वस्तु है। उन्होंने अनगिनत कवियों की कृतियों को अथक परिश्रम से खोज-खोजकर हिन्दी-जनता के सम्मुख उपस्थित कर दिया ; दीन हिन्दी की खाली झोली भर गई। बाद में हिन्दी-साहित्य के जितने इतिहास बने, उन सब पर मिश्रबंधुओं का थोड़ा-बहुत ऋण अवश्य है। इसी काल में 'सरस्वती' लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य का उद्धार एवं नव-निर्माण करने आये। हिन्दी के प्रांगण में द्विवेदीजी का आगमन हिन्दी के परम सौभाग्य की बात है। हिन्दी-गद्य को परिष्कार करने तथा सत् समालोचना का आदर्श रखने के लिए द्विवेदीजी का नाम अमर है। इस काल में अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अरा-

जकता थी; नई-नई शैलियों का प्रादुर्भाव हो रहा था ; भाषा में व्याकरण की कड़ियाँ उलझ गई थीं। द्विवेदीजी के 'महाप्राण' वाले शरीर ने अपने अथक परिश्रम द्वारा सम्पूर्ण निराशा-केंद्रित वातावरण को प्रांजल-श्री बना दिया। उनकी आलोचना का काम एक चतुर माली की भाँति का था। हमारे इसी माली द्वारा काटे-छाँटे पौदे आज अपनी डालों में फूलों के अर्घ्य भरे चिर कृतज्ञ-से खड़े हैं।

द्विवेदीजी के 'सरस्वती'-सम्पादन काल में ही पं० पद्मसिंह शर्मा ने समालोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। बिहारी पर उनका 'संजीवन भाष्य' हिन्दी की अमर निधि है। शर्माजी की समालोचना तुलनात्मक है। हिन्दी के इस शैशव काल में तुलनात्मक समालोचना ही अधिक महत्त्व एवं लाभ की वस्तु है। तुलनात्मक समालोचना का एक विशेष गुण यह होता है कि आलोच्य पर एक बड़ा ही पूर्ण व्याख्यात्मक प्रकाश पड़ता है, जिससे उसमें एक निराली-सी व्यापकता एवं विशदता आ जाती है। किन्तु शर्माजी की शैली में उर्दू की उछलती-कूदती भावुकता अधिक है, जो समालोचना की मनोवैज्ञानिक सौम्यता से दूर पड़ जाती है। उससे केवल व्यापकता ही आ सकती है गम्भीरता नहीं।

'कभी कभी पारस्परिक वैर-विरोध भी परिणाम में प्रशंसनीय होते हैं।' इस सत्य का चरितार्थ 'देव और बिहारी' के विषय में उठी विषम भावना से है। भगवानदीनजी ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ मानकर 'बिहारी और देव' नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें बिहारी को देव से अधिक उच्च कलाकार निर्णय किया। इसके उत्तर में श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी नाम की आलोचना पुस्तक लिखी जिसमें देव को बिहारी से श्रेष्ठतर प्रमाण दिया गया। दीनजी की आलोचना अनेक व्यक्तिगत कटु-कटाक्षों को लेकर चलती है। वे आलोच्य पुस्तक को छोड़कर व्यक्ति के ऊपर अनुचित आक्षेप करने लगते हैं जो एक सफल समालोचक का सुष्ठु कर्त्तव्य नहीं। मिश्रजी की आलोचना दीनजी की आलोचना से अधिक संयत एवं पूर्ण है। समालोचना के क्षेत्र की ओर मिश्रजी की शैली अधिक प्रांजल एवं प्रौढ़ लक्ष्य करती है।

किन्तु हिन्दी में सत्य-समालोचना का युग पं० रामचन्द्र शुक्ल की लेखनी से आया। शुक्लजी से हमारा साहित्य गौरवान्वित है। उनकी समालोचनाएँ हिन्दी ही की नहीं, वरन् विश्व-साहित्य की अद्वितीय निधियाँ हैं। कवि के मानसिक एवं भावात्मक सूक्ष्म विश्लेषण एवं उन पर अपने निष्पक्ष व्यक्तित्व की छाप शुक्लजी की अपनी विशेषता है। शुक्लजी का विश्लेषण उस शुष्क-हृदय वैज्ञानिक का-सा नहीं है जो ज्ञान की प्राप्ति के प्रलोभन में काव्य की आत्मा एवं भावात्मा दोनों का बलिदान कर दे। शांतिप्रियजी ने अपनी शुक्लजी की समालोचना में उन्हें

एक भावहीन वैज्ञानिक क़रार दिया है, किन्तु शांतिप्रियजी का यह जजमेंट भ्रमपूर्ण है। समालोचना में ज्ञानपक्ष प्रधान वस्तु है, भावपक्ष प्रधान नहीं—यहीं शांतिप्रियजी से मतभेद होता है।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की सहकारिता लेकर अनेक समालोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, किन्तु समालोचक की अपेक्षा वे एक पथ-प्रदर्शक हैं, एक निर्देशक हैं। भग्नावशेष के विस्मृत गर्त में सड़ती हुई रचनाओं को प्रकाश में लाने का श्रेय यदि किसी को है तो बाबू साहब को। उन्होंने हिन्दी लेखकों के लिए समालोचना के नवीन-नवीन क्षेत्र खोज निकाले। वे समालोचक-स्वरूप अन्वेषक नहीं, वरन् अन्वेषक-स्वरूप समालोचक हैं। उन्होंने समालोचना के तत्त्वों का अन्वेषण नहीं किया, बल्कि समालोच्य पुस्तकों का अन्वेषण किया। टाल्स्टाय के विषय में एक बार गोर्की ने कहा था—

He opened new vistas for us, new crops to reap.

ठीक यही कथन बाबू साहब के ऊपर लागू होता है।

इन महारथी समालोचकों के शिथिल-श्रांत प्रयत्नों को नवीन स्फूर्ति देने अभी तक इस क्षेत्र में कोई नहीं आया। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जैसे हिन्दी में समालोचना के लिए कोई विषय ही नहीं रहा हो, क्योंकि ऐसी उदासीनता तभी आ सकती है। अपनी दुर्बल अस्थि-पिंजर देह को लेकर कहीं-कहीं श्री शांतिप्रियजी दीख पड़ते हैं, किन्तु वे समालोचक की अपेक्षा व्याख्या करनेवाले सफल कथावाचक ही कहला सकते हैं। इधर 'गिरीश'जी ने तथा 'सुमन'जी ने नवीन हिन्दी-कवियों पर आलोचनाएँ लिखीं, किन्तु दोनों लेखक वास्तविक समालोचना के तत्त्व को नहीं अपना सके। 'गिरीश' जी का 'महाकवि हरिऔध' हरिऔधजी के काव्य की आलोचना न होकर उनके जीवन का संस्मरण-मात्र रह गई। उनकी दूसरी पुस्तक 'गुप्तजी की काव्य-धारा' एक सहानुभूति से हीन अन्यायमय कटाक्ष से पीड़ित है। 'सुमन' जी की 'कवि प्रसाद की काव्य साधना' कहीं-कहीं तो स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा की आलोचना-प्रणाली का स्मरण दिलाती है तथा कहीं-कहीं अँगरेज़ी-समालोचक 'स्टर्न' से समता स्थापित करती है। नगेन्द्रजी की 'पंत' की आलोचना कवि के मानसिक विश्लेषण पर लक्ष्य नहीं कर सकी। किन्तु सत्येन्द्र की गुप्तजी पर आलोचना पुस्तक कवि के मनस्तत्त्व पर काफ़ी प्रकाश डालती है। इधर गुलाबरायजी तथा महेन्द्रजी की 'प्रसाद' के काव्य पर एक परिपूर्ण समालोचना-पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में समालोचना के सभी तत्त्वों की एक संतोषजनक झलक मिलती है।

किन्तु इन सब प्रयत्नों के होते हुए भी हमारी समालोचना-सम्पत्ति कितनी है ? हमारा समालोचना-साहित्य क्या है ? वास्तव में यह हिन्दी के दुर्भाग्य का द्योतक है कि उसमें कबीर, सूर, तुलसी, महादेवी, प्रसाद, निराला-जैसे कवि हों और उनकी समालोचना कुछ भी नहीं हो। कितना आघात लगता है हमारे हृदय पर, जब हम अंगरेज़ी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं और अकेले शेक्सपियर के ऊपर ही सहस्रों समालोचनात्मक पुस्तकें पाते हैं! कितना अल्प था 'कीट्स' का जीवन-काल ? और कितनी केवल गिनती की ही उसने रचनाएं कीं, किन्तु उस पर आलोचना की सैकड़ों पुस्तकें हैं। हमारी हिन्दी में यह वास्तव में एक बड़े अंश तक लेखकों का दोष है, किन्तु इसके मूल में जो एक महान अभाव है, वह कहीं अधिक इस उदासीनता के लिए उत्तरदायी है—वह अभाव है जनता की विमुखता। जब कवियों के काव्य-ग्रंथ पढ़ने की ही रुचि एवं प्रवृत्ति समाज में नहीं है तो भला उन पर आलोचनाओं की कौन चिन्ता करेगा!

बिना समालोचना की भित्ति के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। आज हिन्दीवालों के सम्मुख कर्त्तव्य पुकारता है कि यदि उन्हें अपनी मातृभाषा के प्रति कुछ भी अनुराग हो तो वे उठें और इस दीन-हीन लता बेलि को अपने प्राण रस से सींचें—इसी में उनका कल्याण है, उनकी संस्कृति का निर्माण है और उनके अपनेपन का प्राण है।

१९

आलोचक का उत्तरदायित्व

Neither praise nor blame is the object of true criticism. Justly to discriminate, firmly to establish, wisely to prescribe and honestly to award—these are the true aims and duties of a critic.

ऊपर लिखे शब्दों में आलोचक का आदर्श निहित है। आलोचक का कार्य वास्तव में कलाकार से भी अधिक साधना-साध्य है, क्योंकि कलाकार तो संसार के सामने अपने भावों को शब्दों, तूलिकाओं अथवा अन्य साधनों से साकार बनाकर रख देता है, किन्तु आलोचक को अपनी प्रज्ञाशीलता से उस साकारता में प्राणों का स्पन्दन भरना पड़ता है, कलाकार के भावों को गति देना पड़ता है और भावों की बोधगम्यता को सर्व-साधारण के लिए सुलभ तथा सहज बनाना पड़ता है। कलाकार अपने भावों को मनुष्य के हृदय में केवल जगा देता है, किन्तु उन्हें प्रमाणित करता है आलोचक। इसीलिए कहा गया है कि कलाकार यदि भावुक होता है तो आलोचक भावुक तथा विचारक दोनों होता है। भावनाओं का बाह्य रूप देना कलाकार का काम है, पर उनका तात्त्विक निरूपण करना आलोचक का मुख्य कर्त्तव्य है। कलाकार में हृदय की प्रधानता रहती है, परन्तु आलोचक का गाइड उसका मननशील मस्तिष्क होता है। कलितकला कृतियों से प्राप्त आनन्द को, अपने समीक्षण और साधनों से आलोचक संसार के प्राणियों में बाँट देता है। यही उदारतापूर्ण प्रदर्शन या स्पष्टीकरण उसका चरम लक्ष्य है। अस्तु।

आलोचक के कार्य क्षेत्र में एकान्त कलाप्रियता की आवश्यकता है। प्रातःकाल से लेकर रात्रि को आँखें झपने तक कला-साधना ही उसका मुख्य कार्य होना चाहिए, क्योंकि कला-क्षेत्र का अन्य विषय चाहे अपेक्षाकृत इतनी तल्लीनता और विशेषज्ञता न चाहता हो, पर आलोचना तो तभी सफल हो सकती है जब आलोचक की जीवन-परिधि में आलोचना ही शासक और शासित दोनों हो—दोनों की एकप्राणता हो, क्योंकि ऐसी कला-परायणता ही आलोचना में मुखरित होकर कला का

रहस्योद्घाटन कर सकती है। आलोचक की ऊपर दी गई रूप रेखा से हमें उसका कार्य कुछ नीरसता और एकरसता से युक्त प्रतीत हो सकता है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। कलाकार में यदि माली की कला है तो आलोचक में उपवनविहारी दर्शक की अनुभूतिमय कला है। दर्शक के लिए दोनों कलाएँ अधिक बोधगम्य और प्रांजल-श्रीमय हैं, क्योंकि दर्शक आलोचक-मनोवृत्ति का निराकरणीय दृष्टिकोण—माली (कलाकार) की कला का सत्य—ग्रहण करने में त्रुटि नहीं कर सकता और उसकी कलाप्रियता की मधुर चितवन आलोचना के सहानुभूतिमय क्षेत्र में अभाव का सृजन नहीं कर सकती। दोनों में प्राण शरीर का सम्बन्ध है। अस्तु। आलोचक का सुख कलाकार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। हाँ, उसकी तपस्या भी अधिक तपनमय है, क्योंकि आलोचना एक गम्भीर वस्तु है। वह सरसता और भावुकता की अपेक्षा मनोविज्ञान तथा विचारों की गहनता की ओर अधिक उन्मुख रहती है। उसका क्षेत्र है नीर-क्षीर-विवेक; उसका कार्य है कलाकार के जीवन तथा कला के जटिल तत्त्वों का तात्त्विक विश्लेषण और अपने सम्पूर्ण अन्वेषण तथा प्रस्फुरण पर अपने निष्पक्ष और विचारपूर्ण निर्णय की छाप। आलोचना परम व्यापक क्षेत्रों में विहरण करनेवाली स्वच्छन्द वस्तु है। उसमें कविता की सरसता है, दर्शन की गूढ़ तात्त्विकता है, इतिहास की समयानुकूलता और क्रमशीलता है, प्रकृति की प्रकृतता है, गणित की सूक्ष्म जटिलता है और जीवन की स्वाभाविकता तथा विज्ञान की सत्यता है। अभिप्राय यह है कि मानव-परिसीमा के ज्ञान, अनुभव, कल्पना और चिन्तन की समस्त निधियाँ आलोचना में सन्निहित हैं और सबसे ऊपर इसमें रहती है आलोचक के व्यक्तित्व की आत्मा। अतः हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि आलोचना एक सीमित वस्तु नहीं है, ज्ञान द्वारा अर्जित की गई कोई दैवी निधि नहीं है और न भावुकता द्वारा आई हुई चपल उद्गार-धारा ही है; उसका सच्चा रूप तो इन सबका सम्मेलन-बिन्दु है। क्योंकि आलोचक कला के अन्तर्गत प्रसरण करनेवाली भाव-धाराओं, विचार-प्रणालियों, विकास-लहरों तथा भिन्न-भिन्न अभिव्यंजना-शैलियों की सरस-मधुर व्याख्याओं को समेटकर अपनी दृष्टि में सीमित करता है; उसका निरीक्षण करने के बाद उसे संसार के सामने अधिकारपूर्ण व्यंजनाओं में व्यक्त करता है, तभी उसे आलोचक की सफल सज्ञा मिलती है।

हमारे यहाँ आलोचकों का नितान्त अभाव है। यद्यपि यह भी सच है कि अभी हमारे वर्तमान कलाकारों में इतनी पूर्णता, इतनी व्यापकता और इतनी गहनता नहीं है जिसके प्रति हमें बहुत भीष्म परिश्रम की अपेक्षा हो, पर फिर भी सम्पूर्ण भारतीय कला संसार के किसी भी देश से किसी तरह कम सिद्ध न होगी।

किन्तु हमारे यहाँ अभी ऐसे आलोचकों का अभाव है जो विश्व के कला प्रांगण में अपने कलाकारों का प्रतिनिधित्व कर सके। आलोचकों की इसी कमी के कारण हमारा साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से पिछड़ा हुआ है। यद्यपि यह सन्तोष का विषय है कि राजनीतिक विचारों की जागृति के साथ-साथ हमारे साहित्य में भी जागृति का स्पन्दन होने-सा लगा है और जब से काव्य के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों की ओर हमारे साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है तब से समालोचना की उद्भावना हो चली है और हम समझने लगे हैं कि हमारा साहित्य समालोचना की प्राणवाहिनी नाड़ी के बिना आत्मा से विहीन सुन्दर शरीर-मात्र रह जायगा। यह सभी जानते हैं कि मूल्यवान रत्न भी बिना गुणग्राही जौहरी के पाषाण-खण्डों के बीच में अपनी सारी सुन्दरता और उपयोगिता को समेटे पड़ा रहता है। उसका मूल्याकन तो केवल जौहरी ही कर सकता है। उसी प्रकार साहित्य भी बिना आलोचकों के अपने में पूर्ण होता हुआ भी अपने प्रकाश का प्रत्युत्तर नहीं कर सकता है। सम्भवतः इन्हीं विचारों की प्रेरणा से हमारे यहाँ अब समालोचना का समय धीरे-धीरे समीप आ रहा है। ब्रजभाषा साहित्य में हम केवल काव्य-टीकाओं का ढीला और अपूर्ण चित्र पाते हैं। भारतेन्दु-युग के अंग्रेज़ी के प्रभाव और प्रचार से हम चेते और हमारा साहित्य भी सार्वजनिकता और सार्वदेशिकता का जामा पहनने को उत्सुक-सा हो उठा। उसी युग में गद्य के भाषा-निर्णय के साथ आलोचना की भी नींव-रेखा खींची गई। द्विवेदी-युग में आकर इस नींव रेखा ने अपनी स्थिति और भी दृढ़ तथा परिष्कृत कर ली।

द्विवेदी युग की सबसे बड़ी विशेषता थी हमारे साहित्य में कवियों की परिचायक चर्चा, और इस विषय को लेकर सामयिक साहित्यिकों में बड़ा वादविवाद भी हुआ और उसी वादविवाद का प्रांजल रूप आज समालोचना के पद पर आसीन है। सर्व प्रमुख तुलनात्मक आलोचना को रूप स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने दिया। उन्होंने अपनी एक नवीन अनुभूति को अपने शब्दों में संसार के सामने रखा जिसके फलस्वरूप बहुत सी और भी वैसी ही समालोचनाओं को गति मिली। यद्यपि उनकी आलोचना भाषा और शैली के दृष्टिकोण से अपने आदर्शों में बहुत शिथिल और पक्षपातपूर्ण है, परन्तु उस समय का उनका वह प्रयास तत्कृत्य अवश्य था। इसके बाद शर्माजी की आलोचना की प्रतिक्रियास्वरूप मिश्र बन्धुओं ने भी कुछ आलोचनाएँ लिखीं जिनसे पाठकों को चाहे मनोरंजन भले ही हुआ हो पर समालोचना के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कुछ नहीं हुआ। उनकी समालोचना में उन्हें हम सदैव एक व्याख्या करनेवाले परिचायक के रूप में पाते हैं। वे समालोचना के नवीन क्षेत्र में आकर भी अपनी प्राचीन-प्रियता न छोड़ सके।

इधर पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने अपनी मननशीलता और गम्भीरता से साहित्य-समालोचना का सूत्रपात किया और बाबू श्यामसुन्दरदास ने अंग्रेज़ी साहित्य के अनेक विचारों को अपनी भाषा में अवतारणा की। यदि सच पूछा जाय तो शुक्लजी पहले व्यक्ति हैं जिनको आलोचक कहा जा सकता है। उन्होंने प्राचीन तथा नवीन काव्यों की बहुत ही विशद और विचारपूर्ण आलोचना की। उनकी आलोचना की भाषा सयत, परिष्कृत, प्रौढ़ और विशुद्ध होती है। उसमें एक प्रकार का सौष्ठव-विशेष है। उसमें गम्भीर विवेचना, गवेषणात्मक चिन्तन और निर्भ्रान्त अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती है। वे इस समय आलोचना के आचार्य-पद पर हैं। जब से खड़ी बोली की कविता में छायावाद का विकास हुआ और हमारे गद्य ने भी गम्भीरता की अपेक्षा सहज सरसता को अपनाया, तब से एक नवीन समालोचना का भी आविर्भाव हुआ। इस क्षेत्र में प्रमुखत: अग्रसर हुए श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी। उनकी समालोचना यद्यपि शास्त्रीय गहन गम्भीरता और रहस्योद्घाटन की परिपाटी से सप्रमाण नहीं है, किन्तु हृदय के माधुर्य की मात्रा तथा सरल व्यापकता में ही उनका महत्त्व है। वे वर्तमान कविता के आलोचक ही नहीं, वरन् एक भावुक दर्शक भी हैं, जो सन्मुख खिले हुए पुष्पों में ही अपने हृदय की वृत्तियों को आत्मसात कर देते हैं। ठीक भी है आधुनिक हिन्दी-काव्य तो अभी शैशव के किलकते-हास की एक ममतामयी रेखा है, जिस पर समालोचक का कठोर शासन निर्ममता ही होगा और फिर द्विवेदी-ऐसे नवनीत-हृदयों से।

अब तक की आलोचना का यही आंशिक इतिहास है। हमारे यहाँ के प्राय: सभी आलोचकों ने विशेषत: काव्यालोचन की तरफ ही ध्यान दिया है, परन्तु आवश्यकता है इस बात की कि साहित्य के सभी अगों पर विषय और विवेकपूर्ण आलोचनाएँ की जायँ। निकट भविष्य में इस क्षति-पूर्ति की सम्भावना है।

सौभाग्य से आजकल हिन्दी लिखने वालों की संख्या बहुत बढ़ रही है और हमारे साहित्य के सभी अंगों का अभिनन्दनीय विकास हो रहा है; परन्तु आलोचना तो वस्तुत: मनन की वस्तु है। इसके लिए एक विशाल अध्ययन तथा मंगलमय मनन और चिरस्थायी चिन्तन की आवश्यकता होती है। समालोचना के क्षेत्र में हमें पग-पग पर वाक्य-रचना की व्यवस्था तथा भाषा की प्रौढ़ता और विचारों की स्पष्टता की आवश्यकता पड़ती है। अस्तु, आलोचक को अपनी साधना से कुछ वरद साधन प्राप्त कर लेने के ही बाद अपना कदम बढ़ाना चाहिए। मेरे विचार से नीचे लिखी बातों का ध्यान प्रत्येक आलोचक को रखना चाहिए।

पहली बात जो आलोचक में होनी चाहिए वह है आत्माभिव्यक्ति का

सुगम, सरल और सहज साधन। इसके बिना कोई भी आलोचक अपने विचारों तथा भावों का बोधगम्य प्रतिपादन नहीं कर सकता और आलोचक की अस्पष्टता किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं है।

दूसरी बात आलोचक को यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी कलाकार की कृति का गुण-अवगुण तथा उसके विचारों का खण्डन-मण्डन कर रहा है न कि अपने विचारों तथा भावों का। आलोचक का काम है किसी कलाकार के मानसिक विचारों के व्यापारों का स्पष्टीकरण न कि अपने विचारों का द्वन्द्व-प्रदर्शन। आलोचक कला की रुचि-वैचित्र्य में एक सुरुचि का स्टैन्डर्ड स्थापित करता है न कि अपनी एकान्त रुचि का प्रतिपादन।

तीसरी बात आलोचक की निर्भीक और निष्पक्ष स्पष्टता है, क्योंकि कहा जाता है कि आलोचक की "A good bold error is less shameful than a stammering verdict that may be taken either way." आलोचक को अपने निर्माण तथा निरूपण में निर्भीक और साहसी होना चाहिए।

चौथी बात जो आलोचक का आधार है वह है उसकी समीक्षण और सन्तुलन शक्ति, क्योंकि बिना तुलनात्मक गवेषण के कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु की स्थिति तथा उसका मूल्यांकन कर ही नहीं सकता। अस्तु, आलोचक को चाहिए कि देश, काल, पात्र की परिस्थितियों का समन्वयात्मक सन्तुलन करने के बाद ही अपना दृष्टिकोण उपस्थित करे। ऐसा न करने से वह किसी भी कला का जज न होकर एक लीडर-मात्र रह जायगा।

पाँचवीं बात है आलोचक की अधिकारपूर्ण योग्यता। यदि भूल से आये आलोचक ने अनधिकार चेष्टा की तो उसे शीघ्र ही मुँह की खानी पड़ेगी। आलोचना केवल उस विषय की करनी चाहिए जिसका ज्ञान समुचित रूप से प्राप्त हो, क्योंकि आलोचक का कार्य अपनी राय देना न होकर जजमेंट देना है।

इस प्रकार की सतर्कता से ही आलोचना की जा सकती है, अन्यथा नहीं। साहित्य का जो भी आलोचक अपनी अंतश्चेतना के स्पर्श से, अपनी अध्ययनशीलता के बल से, अपनी बुद्धि की विशिष्टता तथा निष्पक्ष शक्ति से और अपनी संयत सुरुचि से आलोचना लिखेगा उसको अवश्य सफलता मिलेगी। मैंने अपने इस लेख में आलोचकों के लिए कोई राज-मार्ग बताने का प्रयत्न नहीं किया, वरन् अपनी समझ के अनुसार मैंने आलोचकों को एक उचित पथ का संकेत-मात्र किया है। यों तो साहित्य-ऐसी शाश्वत सृष्टि के समझने, समझाने के अनेक और अनन्त साधन हैं जिन्हें प्रतिभावान अपने-अपने अनुकूल अवसर पर स्वतः प्राप्त कर लेंगे।

२०

साहित्य में 'वादों' का विवेचन

हिन्दी साहित्य का वर्तमान काल प्रायः प्रयोग का काल है। इन अनेक प्रयोगों में से कुछ प्रयोगों का परिणाम तो अपनी महत्ता और गुरुता में हमारे सामने है तथा कुछ प्रयोग अभी प्रक्रिया के पथ पर हैं। हमारे साहित्य का भविष्य इन्हीं प्रयोगों के फलों का परिणाम होगा; इन्हीं उगाये जाने वाले बीजों का अंकुरित एवं पल्लवित तथा कुसुमित द्रुम-दल का उपवन होगा, जिसमें तीखे शूल भी हो सकते हैं और सुरभि वाले फूल भी।

अचानक आनेवाली उत्क्रान्ति अपनी प्राथमिक आभा में बड़ी ही सत्य और सुन्दर मालूम पड़ती है किन्तु उसका असली रूप और उसका व्यवहार-साधन एक जटिल एवं विकट समस्या से ओत-प्रोत रहता है। कहीं दूर खिले हुए फूल को देखकर जो भावना हमारे मन में उठती है, वह उस तक पहुँचने के मार्ग में बिखरी आपत्तियों तथा अप्रत्यक्ष परिस्थितियों की ओर हमें ध्यान देने का अवकाश नहीं देती, क्योंकि फूलों की ओर हम अपलक दृष्टि किये शूलों को नहीं देख पाते और कभी-कभी इसका फल बहुत ही हानिकारक एवं घातक सिद्ध होता है। हमारा साहित्य भी आज उत्क्रान्ति के अराजक क्षेत्र में पनप रहा है, अतः हमें उसकी गति को ऐसे सुपथ पर आरूढ़ करना चाहिए जिसमें जीवन के दिव्य सत्य की आभा हो और मानव-कल्याण के महत्त्व की चिरन्तन सन्देशमयी लगन तथा साधना हो। यह तो सर्वमान्य है कि साहित्य सभ्यता के वृन्त पर लिखने वाले सुमन का सौरभ है, समाज की प्रगति पर फैली जीवन की सुकुमार लता है, समय के अन्तःकरण से बहनेवाला सनातन स्रोत है। सभ्यता, समाज और समय तीनों का रसायनिक एकीकरण साहित्य में रहता है और साहित्य इन तीनों में है। किसकी महत्ता किस पर है यह विवदास्पद है। चाहे जो हो, पर यह तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि सभ्यता के आदर्शों का परिवर्तन, समाज की अवस्था और समय की गति आदि सब साहित्य की रूपरेखा में अपना अमिट प्रभाव रखते हैं, क्योंकि हमारा वर्तमान साहित्य हमारी भूतपूर्व सभ्यता, समाज एवं समय की सृष्टि है।

अस्तु, हमारी वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामयिक अवस्था हमारे साहित्य-स्वरूप की भावी प्रतिमा होगी।

विज्ञान के विकास से आज हम एक विस्तृत क्षेत्र में जीवन की सांसें ले रहे हैं। हमारा क्षेत्र आज नगर, प्रान्त, देश तथा विदेश से परिवर्धित होकर विश्व की रंगस्थली हो गया है। आज हम अपने गीतों के साथ विश्व-मानव के भी गीत सुन रहे हैं। आज हमारा उत्तरदायित्व विश्व के लिए है, सम्पूर्ण मानव-समाज के लिए है। आज हमारी सभ्यता, हमारा समाज और वह समय जिसके हम हैं सभी 'विश्व-सम्मेलन' की प्रगति के पथ पर गतिशील है। यही कारण है कि आज का साहित्यिक शुभकामना केवल अपने लिए तथा अपनों के लिए ही नहीं करता, वरन् उसके सहानुभूतिमय प्राण समस्त मानवता के लिए विस्तृत हैं—

कामना-कली ले विश्व प्यार,
करती रहती सौरभ प्रसार !

हमारा यह समय विश्व-सम्मेलन का प्रथम क्षण है और फलतः हमारा साहित्य विश्व-साहित्य की भावनाओं का प्रथम अध्याय। हम दिन-प्रतिदिन अपनी आत्मा का सम्बन्ध विश्व-मानव की आत्मा से बढ़ाते जाते हैं। अस्तु, हमारी इस भावना का प्रभाव हमारे साहित्य में स्थायी होगा, इसमें सन्देह नहीं है। हमारे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ 'समाजवाद' की व्याप्ति आज साहित्य में भी विचारणीय होती जा रही है। इसका प्रवेश राजनीतिक एवं आर्थिक राष्ट्र के लिए कैसा सिद्ध होगा, इससे हमें यहाँ कोई मतलब नहीं; हमें तो साहित्य के दृष्टिकोण से यहाँ इसका विवेचना करना है। सबसे पहली बात यह है कि साहित्य किसी भी 'वाद' की कारा में बन्द नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कारा में कैद साहित्य अपनी व्यापकता से परे एक पक्ष-विशेष की भावना का ही प्रतीक होगा। किन्तु साहित्य तो पक्ष तथा निष्पक्ष दोनों के ऊपर की वस्तु है।

हाँ, तो राजनीतिक या आर्थिक विश्व में 'समाजवाद' की औषधि का प्रयोग चाहे भले ही उपयोगी हो सके, पर साहित्य में इस वाद की कल्पना करना ठीक नहीं, क्योंकि राजनीति और अर्थ इस स्थूल विश्व की वस्तुएँ हैं; इनका सम्बन्ध मनुष्य की बाह्य क्रियाशीलता से है, शारीरिक कार्यात्मकता से है, किंतु साहित्य तो सूक्ष्म भावना की चिरस्थायी सम्पत्ति है—ईश्वर की-सी सूक्ष्म, पारे की-सी तरल, कुसुम-सी कोमल। वह तो सदैव से मनुष्य के अन्तर से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है। तब भला यह 'समाजवाद' का नया घूँट उसे कौनसा नया प्राण देगा। यूँ तो साहित्य अपनी चिरन्तनता की डोर से समाज के साथ बँधा है, क्योंकि सामाजिक भावनाओं का सौरभ साहित्य है। अस्तु, जब समाज की भाव-

नाएँ इतनी विदग्ध एवं विचारणीय तथा मर्मस्पर्शी हो जायँगी तब क्या कभी किसी भी साहित्यिक का हृदय उसके प्रति उदासीन रह सकता है ? कदापि नहीं। विशेषकर कवि का कण्ठ उस समय मूक तथा प्रशांत नहीं रह सकता। कवि विश्व का सबसे मर्म-संयुत, सबसे सुकुमार प्राणी है ; वह अपने आसपास की पीड़ा से, विश्व की व्यथा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रगतिशीलता का एक नया 'वाद' आज यहाँ चल पड़ा है। इस सम्प्रदाय के प्राणी साहित्य को प्रगतिशील बनाना चाहते हैं, पर मुझे तो आश्चर्य होता है कि साहित्य प्रगतिशील कब नहीं रहा !

अप्रगतिशील चीज़ कभी चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकती। इसके अतिरिक्त साहित्य कभी कुम्हार के घड़े की भाँति बढ़ाया-बनाया नहीं जाता, वह तो अपने आप बनता है। वह दिमाग़ की उत्तेजक उत्पत्ति नहीं है, वरन् वह साधना से सधी तथा अनुभूति से अनुप्राणित वस्तु है ; उसे ढकेल कर कोई भी प्रगति नहीं दी जा सकती।

वस्तु-जगत् के फ़ैशनों की भाँति साहित्य में भी नये-नये फ़ैशनों का जन्म होता रहता हैं। साहित्य में 'प्रकृतिवाद' भी एक साहित्यिक फ़ैशन है। इस फ़ैशन में मानवता तथा पशुता में कोई अन्तर नहीं रह जाता। पशुता का प्राधान्य और अन्त में उसी की विजय इस 'वाद' का मूल ध्येय है। इसका भी अपना सम्प्रदाय है जो किसी भी साहित्य को बहुत स्थूल बनाने में समर्थ हो सकता है। दूसरा विचार करने लायक है 'यथार्थवाद' जो प्रकृतिवाद का ही सौम्य रूप है। इसमें 'फोटोग्राफिक' सत्यता को ही मुख्य स्थान दिया जाता है। ज्यों-का-त्यों चित्रण करना ही इसकी चरम साधना है, जो हमारे साहित्य के लिए हेय है, क्योंकि साहित्य तो हमारे वास्तविक जीवन के सभी क्षणों की सृष्टि नहीं, वह तो एक ऐसे क्षण की सृष्टि है जो जीवन में बहुत विरल है। जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी होते हैं जो हमारे साधारण दैनिक क्षणों से भिन्न होते हैं। ऐसे क्षणों में हमारा जीवन साधारण मानवीय जीवन के धरातल से उठकर आधिभौतिक महामानव के साम्राज्य में विचरण करने लगता है और तब हमको आत्म-विस्मृति की एक ऐसी सम्मोहन माया आवृत कर लेती है कि भारी-भारी से भौतिक अभाव, शारीरिक संताप और पार्थिव जीवन की कोई भी व्यथा हमें याद नहीं रह जाती। उस समय 'रोटी का राग' और 'क्रान्ति की आग' तथा 'किसानों की विपदा' का कुछ स्मरण नहीं रहता। ऐसे ही ऊँचे तथा दिव्य क्षणों की अनुभूति का सुफल साहित्य है। इसी कारण साहित्य में सत्, चित् और आनन्द का अधिवास माना गया है। भला साहित्य की इस संज्ञा में पार्थिव-जगत् का स्थूल सत्य कहाँ स्थापित किया जा

सकता है ? इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य में जीवन की यथार्थता का अभाव होता है , क्योंकि यह सम्भव नहीं है । साहित्य तो मानवीय भावनाओं और अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति है और मानव भावनाएँ उसके स्थूल जीवन को ही लेकर जीवित हैं । किन्तु साहित्य की सृष्टि वहीं होती है जहाँ हमारे भाव सुन्दरता की शरण लेकर संसार के सामने आनन्दमय बनकर उपस्थित होते हैं । अस्तु , उसको पार्थिव स्थूलता से उतना ही सम्बन्ध है जितना आकाश में उड़ती हुई पतंग और पृथ्वी की डोर से है । पतंग का आधार तो पृथ्वी पर ही है पर वह है आकाश में । उसी प्रकार हमारे साहित्य का आधार तो हमारा यह पार्थिव जीवन ही है पर साहित्य की सृष्टि पार्थिव नहीं है ।

ज्यों-ज्यों हमारे जीवन का सम्पर्क विज्ञान से बढ़ता जाता है त्यों-त्यों 'कारण' और 'तर्क' की भावना हमारे हृदय और दिमाग को प्रभावित करती जाती है । इसका फल यह हो रहा है कि हमारे साहित्य में भी 'वस्तुवाद' का प्राधान्य होता जा रहा है । एक दिन था जब हम अपने को सोचते थे, अनुभव करते थे । आज हम अपने को जानते हैं और देखते हैं । अब कल्पना और भाव-प्रवणता के तरल सिंधु में जीवन का यथार्थ अपने पार्थिव पदार्थों को लेकर उतराने लगा है । इस पार्थिव साधना से साहित्य स्वभावतः दूर पड़ता है । काव्य तो इससे कोसों दूर है, क्योंकि ऐसी पार्थिव समस्याओं का स्पष्टीकरण गद्य के अधिक समीप पड़ता है । इसी से हमारा साहित्य धीरे-धीरे पद्य-प्रधान की अपेक्षा गद्य-प्रधान हो रहा है और भावना के ऊपर 'वस्तुवाद' विजय-सा पा रहा है ।

इस प्रकार के बहुत अन्य 'वादों' की छाया हमारे साहित्य पर पड़ने लगी है और अनधिकारी लोग उसका अनुचित लाभ उठा रहे हैं । वास्तव में मेरा मतलब साहित्य में किसी 'वाद' के बहिष्कार का नहीं है , किन्तु आवश्यकता है सावधानी से प्रयोग करने की और अपनी संस्कृति, समय तथा परिणाम समझकर कार्य करने की । अस्तु, यदि हमको इन 'वादों' की ही संकेत-रेखा में साहित्य-सृजन करना है, मानव भावनाओं को यदि 'वादों' के ही चश्मों से देखना है तो उनको हम उस सत्य एवं सत्य के रूप में ही लें जो कला की प्रकृत भूमि पर स्थापित हो सके । इन वादों की नग्न सत्यता को छोड़कर हमें इनके सत्य की आभा को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इन 'वादों' के बवण्डर से निकलकर ही सच्चा 'साहित्यवाद' सृष्ट होगा जिसमें हम भावना की निरन्तर दिव्य द्युति के साथ जीवन का सत्य देखेंगे । वही परम सत्य, सनातन और सब 'वादों' पर विजयी साहित्य होगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

२१

ग्राम्य-गीत

आधुनिक हिन्दी साहित्य में ग्राम्य-गीतों का संचयन, संकलन, विवेचन एवं प्रकाशन आदि सभी भारतीय राष्ट्रीय जागृति के परिणाम हैं। राष्ट्रीय महासभा ने जब ग्राम्योद्धार तथा ग्राम्य-जागृति के प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिए देश-भर में आन्दोलन की लहर व्याप्त कर दी; आधुनिक पदार्थवादी (materialistic) और मशीनवादी (machinery-ridden) सभ्यता के विषैले प्रभाव को स्पष्ट करते हुए जब बापू की दिव्य वाणी से 'गाँवों की ओर' (Back to the villages) फूट पड़ा तभी से हमारी साहित्यिक एवं राजनैतिक प्रचेष्टाएँ गाँवों की सरल भूमि पर केन्द्रित होने लगीं। ग्राम्य-साहित्य-निर्माण करने के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे। अनेक हिन्दी के गण्य-मान्य विद्वान् ग्राम्य-साहित्य-संकलन एवं निर्माण के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए—और अब दिन-प्रतिदिन लोगों का ध्यान इस दिशा की ओर आकृष्ट होता जा रहा है। इस आन्दोलन में सबसे प्रथम अपना क्रियात्मक प्रोग्राम उपस्थित करनेवाले श्री रामनरेश त्रिपाठी हैं। उन्होंने देश के एक बड़े विभाग में यात्राएँ करके ग्राम्य-गीतों का सकलन किया। हिन्दी में उनकी यह देन उनकी एक अमर यशःकृति है। त्रिपाठीजी द्वारा ग्राम्य-गीतों में आभासित जो एक सरल परिस्थिति एवं हृदय की जो एक अपनी मौलिक भावना है, उसमें भारत की जो चिरन्तन मनोवृत्ति निगूढ़ है उससे हमारे राजनीति-क्षेत्र के अधिकांश नेता शायद परिचित भी नहीं होंगे। वास्तव में किसी देश की सभ्यता एवं संस्कृति की परम्परा के स्तरों से छनती आती हुई चिरन्तन स्रोत-धारा ग्राम्य-साहित्य के अक्षरों में ही प्रतिबिंबित रहती है, चौपालों पर अलापे जानेवाले गीतों में ही प्रतिमुखर रहती है, जीवन के सामान्य क्षणों में स्वतः गुनगुनाये या सखी-सहेलियों के साथ गाये जानेवाले ग्राम्य-स्त्रियों के गीतों में ही ध्वनित रहती है। इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले दूसरे यशस्वी व्यक्ति हैं श्री देवेन्द्र सत्यार्थी। सत्यार्थीजी ने ग्राम्य-गीतों का विवेचन एवं व्याख्या करते हुए जो भावात्मक लेख लिखे हैं उनको हम हिन्दी की अमर सम्पत्ति मान सकते

हैं। ऐसा भावात्मक गद्य और ऐसा सरल-तरल विवेचन हिन्दी की एक नवीन वस्तु है। सत्यार्थीजी की लगन सराहनीय है, उनकी साधना अभिनन्दनीय है और इस क्षेत्र में उनकी सेवा अनुकरणीय है। श्री सूर्यकरणजी पारीख ने भी राजस्थान के गीतों पर कुछ लेख लिखे हैं तथा और भी अनेक विद्वान् लेखक इस क्षेत्र में अपनी साधना निगूढ़ किये हुए हैं। ग्राम्य-गीतों का प्रकाशन एवं ग्राम्य-साहित्य का निर्माण एक तो राष्ट्रीय एकता का उत्पादक है, दूसरा 'ग्राम' और 'नगर' के जीवन का समवाय-कर्त्ता है। इस समवाय से बड़ा भारी लाभ है—एक तो 'ग्राम' भी सभ्यता एव विकास की प्रगति में 'नगर' के साथ हो जायगे और दूसरे नगरों की उत्तेजक प्रगति में गाँवों के प्रभाव से कुछ शांति का समावेश हो जायगा, देश में एक संतुलन-सा (balance) आ जायगा।

अनुवाद

अनुवाद कोई हेय वस्तु नही है; अनुवाद के अन्तराल में हृदय की ग्राहिणी प्रवृत्ति का समावेश है; उसमें किसी भी भाषा के, साहित्य के भावना-पक्ष की हृदयग्राहिता क्रिपी रहती है। साहित्य केवल रचना एवं निर्माण ही नहीं है, वरन् वह संकलन, अवतरण और संचयन भी है।

अन्य भाषाओं के साहित्योपवनों में से कला-पुष्प-संचय करने का मुख्य द्वार अनुवाद है। अनुवाद की अवतरण-प्रणाली पर साहित्य की विनिमय-मनोवृत्ति निर्भर है। बड़े हर्ष का विषय है कि हिन्दी में अनुवादों की ओर काफ़ी ध्यान दिया गया है। बंगला, अंगरेज़ी और अन्य भाषाओं के साहित्य में बिखरी सौरभ-श्री का अवतरण बड़े सुसस्कृत स्वरूप में हमारे साहित्य में आज उपलब्ध है। बँगला-ग्रंथों का अनुवाद सबसे प्रथम और विशेष गणनीय कोटि में श्रीरूपनारायणजी पांडेय की लेखनी से सृष्ट हुआ। द्विजेन्द्रलाल राय के समस्त नाटकों के अनुवाद तथा बंकिम, शरत् आदि प्रगल्भ उपन्यासकारों के कथा-साहित्य का हिन्दी अनुवाद बड़े ही सुन्दर एवं साकार रूप में पांडेयजी की लेखनी से निःसृत हुआ। बँगला के दूसरे सफल अनुवादक हैं श्री धन्यकुमार जैन। पांडेयजी से अधिक सफलता जैनजी को बँगला-अनुवाद में प्राप्त हुई, किन्तु केवल रवि बाबू के ग्रंथों में ही। पं० ठाकुरदत्त मिश्र एक बड़े लम्बे अरसे से बँगला-कथा-साहित्य के अनुवाद में प्रगतिशील हैं और कहीं-कहीं तो उनका अनुवाद बिलकुल मौलिक रचना-सा प्रतीत होता है। प्रभाकर माचवे, काशीनाथ त्रिवेदी प्रभृति विद्वानों ने मराठी एव गुजराती के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों एवं लेखों के अनुवाद हिन्दी में किये। अनुवाद का क्षेत्र हमारे साहित्य में और भी विस्तृत एवं प्रगूढ़ हो गया, जबकि प्रेमचन्दजी ने अपने 'हंस' में समस्त भारतीय भाषाओं एवं पाश्चात्य भाषाओं के कहानी साहित्य को अनूदित स्वरूप

में प्रकाशित करने का कार्यक्रम निश्चित कर लिया। प्रकाशकों में सरस्वती-प्रेस एवं हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर का इस क्षेत्र में विशेष स्थान है। हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर के प्रबन्धकर्ता श्री नाथूराम प्रेमीजी का जो नवीन आयोजन प्रारम्भ हुआ है, वह हिन्दी के लिए एक महत्त्व की बात है। रूसी साहित्य के अनुवाद प्रस्तुत करने का श्रेय विशाल भारत को है।

अनुवाद बड़े महत्त्व की वस्तु है। अनुवाद की विभूति सभी भाषाओं के साहित्य का दिव्य सम्मेलन सम्पन्न करती है; विश्व-साहित्य-श्री के प्रकाश में हम अपने साहित्य में प्रस्थित अंधकार एवं क्षायात्मक स्थलों को देख सकते हैं और उनका आदर्श सम्मुख रखकर अपने विकास को भी उसी प्रगति के पथ पर आरूढ़ कर सकते हैं। किन्तु यह जितनी लाभ की वस्तु है, उतनी ही कठिन एवं सूक्ष्म भी है। वास्तव में देखा जाय तो अनुवाद मौलिक रचना से भी कठिन होता है—अनूदित अंश मौलिक की मौलिकता से परिपूर्ण, उसकी आत्मा से सम्पन्न, उसी की भावना से संयुत होना चाहिए। संक्षेप में यह भी अपने में ही निगूढ़ एक महती शक्तिवाली कला है।

आत्मकथा और संस्मरण

आत्मकथा और संस्मरण साहित्य के बड़े महत्त्वपूर्ण अंग हैं। आत्मकथा का हिन्दी में बड़ा अभाव है और वास्तव में देखा जाय तो वह हिन्दी में है ही नहीं। यहाँ केवल हमें अनुवाद के ही दर्शन होते हैं। यह हिन्दी में एक बड़ी खटकनेवाली आवश्यकता है और विशेष शोचनीय विषय तो यह है कि अभी तक हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ।

संस्मरण के क्षेत्र में अवश्य कुछ प्रयत्न हुआ है। सेंट निहालसिंह ने सरस्वती में तथा श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी ने विशाल भारत में बड़े ही सुन्दर-सुन्दर संस्मरण लिखे हैं। संस्मरण की भी एक विभिन्न कला है। इसके वास्तव में दो स्वरूप हैं—एक व्यक्ति को लेकर चलती है, दूसरी लेखक के भावना सागर में व्यक्ति को डुबोकर। हम सेंट निहालसिंह के संस्मरण को पहली प्रणाली का नमूना कह सकते हैं, और चतुर्वेदीजी की प्रणाली को दूसरी का आदर्श। संस्मरण लिखने में चतुर्वेदीजी का महत्त्व सर्वोपरि है। अपने सुलझे विचारों में उनकी लेखनी से जो चित्र एवं प्रचित्र प्रभूत होते हैं, उनमें प्रभाव की एक बड़ी महत्त्वशील पूर्णता रहती है। संस्मरणों का सम्बद्ध जाल जीवनी हो जाता है। कविरत्न सत्यनारायण जी की जीवनी संस्मरणों से प्रारम्भ होकर संस्मरणों पर ही पूर्णता निर्दिष्ट करती है। इसे लिखकर चतुर्वेदीजी ने जीवनी लिखने का आदर्श स्थापित कर दिया है। किन्तु बड़े शोक की बात है कि हिन्दीवालों ने इस क्षेत्र की ओर भी विशेष ध्यान

नहीं दिया। हिन्दी में भी अनेक डा० जान्सन (Dr. Johnson) हो चुके हैं; किन्तु शोक है कि कोई बॉस्वेल की साधना को ग्रहण नहीं करता। श्रद्धेय गणेशजी, पं० पद्मसिंह जी शर्मा, पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी आदि अनेक गण्य-मान्य विद्वान्, आचार्य एवं महापुरुष हमारे साहित्य की रंगस्थली से अतीत हो चुके हैं, किन्तु उनकी जीवनी पर किसी का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं हुआ। संक्षेप में यह अभाव एवं शिकायत एक लज्जा की बात है।

इस प्रकार हमारा साहित्य विकास की आदर्श भूमि की ओर अपने सम्पूर्ण प्रवेग एवं दिव्य साधना के अवलम्बन से प्रगतिशील है। साहित्य के सभी अंगों पर भावना के केन्द्र निगूढ़ हो रहे हैं; सभी पहलुओं पर कलात्मक एवं साहित्यिक दृष्टि-विक्षेप हो रहा है। हमारा भविष्य उज्ज्वल है, स्वर्णिम है और सम्पूर्ण है, हमारा वर्तमान यही आभासित कर रहा है।

२२

हिन्दी-साहित्य का भविष्य

वर्तमान काल हमारे साहित्य का सर्वांगीण प्रगति का प्रयत्न-काल है। विश्व साहित्य की कला-प्रदर्शिनी से अनेक आदर्श (pattern) प्राप्त करके आज हमारे लेखक और कवि उन्हीं की रूप-रेखा में साहित्य को सजा रहे हैं। उपवन हमारे साहित्य का अपना स्वयं का विद्यमान है, किन्तु हमारे साहित्यकार उसको उसी रूप में सजाने का उपक्रम कर रहे हैं, जिस रूप में अन्य भाषाओं के साहित्य सजे हुए हैं। वृहत् रूप से हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल प्रयोग का काल है। इन प्रयोगों में से कुछ प्रयोगों का परिणाम तो अपनी महत्ता और गुरुता में हमारे सम्मुख है तथा कुछ प्रयोग अभी प्रक्रिया के पथ पर चल ही रहे हैं—उन्हीं पर यहाँ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि हमारे साहित्य का जो भविष्य होगा, वह इन्हीं प्रयोगों के फलों का परिणाम होगा, इन्हीं उगाये जाने-वाले बीजों से अंकुरित एवं पल्लवित कुसुमित द्रुमदल का विश्व होगा ; जिसमें विषैले शूल भी हो सकते हैं, और सलोनी सुरभिवाले फूल भी।

उत्क्रांति देखने में तथा अपनी प्राथमिक आभा में बड़ी मधुर लगती है, किन्तु उसका असली रूप और व्यवहार-साधन एक जटिल एव विकट समस्या से आबद्ध रहता है। सुदूर प्रांत में खिले फूल देखकर क्रांति की उद्भावना की जाती है, क्रांति की अवतारणा की जाती है ; किन्तु प्राय: उन फूलों तक पहुँचने के राजमार्ग में बिछी आपत्तियों, शंकाओं-आशंकाओं तथा आपत्तिजनक परिस्थितियों की ओर ध्यान ही नहीं रहता; फूलों की ओर दृष्टि अपलक किये हम रास्ते के शूलों को नहीं देख पाते, ठोकरें देनेवाली शिलाओं और प्रस्तरों को नहीं देख पाते ; और अक्सर नतीज़ा बड़ा हानिकर एवं घातक होता है। हमारा साहित्य भी उत्क्रांति के अराजक क्षेत्र में आज पल्लवित हो रहा है ; उसकी बड़ी-बड़ी ज़िम्मे-दारियाँ हैं, बड़े-बड़े उत्तरदायित्व हैं और पूर्णता तथा सत्य की विदग्ध साधना है। वह हमारी संस्कृति का प्रतीक है, समाज का प्रतिबिंब है, समय का सजीव चित्र है, अत: उसकी गति को ऐसे पथ पर आरूढ़ करना है, जिसमें जीवन के

दिव्य सत्य की आभा हो और मानव-कल्याण के महत्त्व की चिरन्तन संदेशमयी लगन हो।

साहित्य सभ्यता के वृन्त पर खिलनेवाला सौरभ है, समाज की प्रगति पर फैली जीवन की सुकुमार लता है, समय के अंतःकरण से बहनेवाला चिरन्तन स्रोत है। सभ्यता, समाज और समय तीनों साहित्य में हैं और साहित्य इन तीनों में है; व्यक्तित्व-स्वरूप से यह अनिश्चित एवं अज्ञात है कि किसकी महत्ता किस पर है। तर्क की सहायता से यह कहा जा सकता है कि साहित्य इन सबका मूल एवं पुष्प है, किन्तु विश्व का इतिहास कभी कभी इसके अपवाद भी प्रस्तुत करता है। अस्तु। किन्तु हम इतना तो बिना किसी वादविवाद के कह सकते हैं कि साहित्य की प्रगति में इन सबका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभ्यता के आदर्शों का परिवर्तन या उसी अवस्था में व्यापन, समाज की अवस्था और समय की गति आदि सब साहित्य के स्वरूप की रूपरेखा को व्यक्त करते हैं। हमारा वर्तमान साहित्य हमारी भूतपूर्व सभ्यता, समाज एवं समय की सृष्टि है और हमारी वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामयिक अवस्था जिस साहित्य का सृजन करेगी, वह हमारे भावी साहित्य की प्रतिमा होगी। अतः हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा, इस प्रश्न पर कुछ अपने विचार प्रकट करने से प्रथम हमें अपनी वर्तमान अवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टि डालना है। हमारे वर्तमान के वक्ष पर उगे जो पौदे हैं, हमारे वर्तमान का जो उपवन है, उसी पर हमारे साहित्य का सुमन खिलेगा।

भारत और विश्व

विज्ञान के विकास की इस निरन्तर निखिल व्यापकता के फलस्वरूप आज हम एक विस्तृत क्षेत्र में जीवन की साँसें ले रहे हैं। हमारा क्षेत्र आज नगर, प्रांत, देश तथा विदेश से परिवर्द्धित होकर विश्व की रंगस्थली हो गया है। आज हम अपने गीतों के अतिरिक्त विश्व-मानव के गीत भी सुन रहे हैं; आज हम विश्व के नागरिक हैं। जिस प्रकार कल हमारा उत्तरदायित्व अपने नगर के लिए था, अपने प्रांत के लिए था, अपने देश या राष्ट्र के लिए था, उसी प्रकार आज हमारा उत्तरदायित्व विश्व के लिए है, सम्पूर्ण मानव समाज के लिए है। एक समय था, हम विश्व से दूर थे, विश्व-मानव से तटस्थ थे, किन्तु आज हम विश्व में हैं, विश्व मानव की पंक्ति में हमारी भी सत्ता है और दिन-प्रतिदिन हम एक-दूसरे के निकट से निकटतर आते जा रहे हैं। हमारी सभ्यता, हमारा समाज और वह समय जिसमें हम साँस लेते हैं, सभी 'विश्व-सम्मेलन' की प्रगति के पथ पर गतिशील हैं। हमारी भावना हमारे साहित्य के स्वर में आज इसी सम्बन्ध को ध्वनित

कर रही है । हमारे कवि, हमारे साहित्यकार आदि सभी अपने हृदय में यही विश्व-ऐक्य की भावना भरकर अपनी कृतियों को प्रस्तुत कर रहे हैं । आज कवि की 'कामना' अपने लिए तथा अपनों के लिए ही संचित नहीं है, किन्तु उसके सहानुभूतिमय हाथ समस्त मानवता के लिए विस्तृत हैं—

कामना-कली ले विश्व-प्यार
करती रहती सौरभ-प्रसार ।

हमारा आज का समय विश्व-सम्मेलन का प्रथम क्षण है और फलस्वरूप हमारा साहित्य विश्व-साहित्य की भावनाओं का प्रथम अध्याय । हम दिन-प्रतिदिन अपना स्नेह-बन्धन दृढ़तर करते जाते हैं ; हम विश्व-मानव की आत्मा से अपनी आत्मा का सम्मेलन और भी आंतरिक सूक्ष्मता से करते जा रहे हैं । अतः भविष्य में हमारे साहित्य का जो स्वरूप होगा, उसमें इस भावना का बड़ा भारी प्रभाव रहेगा ।

समाजवाद की लहर

हमारे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद की व्याप्ति आज विशेष विचारणीय होती जा रही है । इसका प्रवेश हमारे राजनीतिक एवं आर्थिक राष्ट्र के लिए हानिप्रद या लाभप्रद किस प्रकार का होगा, इससे हमें यहाँ कोई मतलब नहीं—हमें साहित्य के दृष्टिकोण से यहाँ पर संक्षेप में कुछ अपना मत प्रकट करना है । सबसे पहली बात तो यह है कि साहित्य किसी भी 'वाद' की कारा में बन्द नहीं किया जा सकता । कारा में क़ैद साहित्य सच्चा साहित्य नहीं होगा, वरन् वह एक पक्ष-विशेष की भावना का ही साहित्य होगा । सच्चा साहित्य पक्ष और निःपक्ष दोनों से ऊपर की वस्तु है । राजनीतिक संसार में या आर्थिक विश्व में समाजवाद की औषधि प्रयोग में आ सकती है, किन्तु साहित्य में समाजवाद का प्रवेश, यह विचार क्या, कल्पना भी कितनी उपहासास्पद है । राजनीति और अर्थ ठोस विश्व की वस्तुएं, उनका सम्बन्ध मनुष्य की बाहरी क्रियाशीलता से रहता है, शारीरिक कार्यात्मकता से रहता है, अतः बखूबी समाजवादी प्रक्रिया उनमें सम्मिलित की जा सकती है । किन्तु साहित्य तो सूक्ष्म भावना की अदृष्ट सम्पत्ति है—ईथर की-सी सूक्ष्म, पारे (mercury) की सी तरल । वह तो प्रारम्भ से लेकर अंत तक मनुष्य के अन्तर से सम्बन्ध रखती है । भला समाजवादी कौन-सी बुद्धिमत्ता से तथा किस असाधारण (extraordinary) विधि से उसको समाजवादी घूंट पिलायेंगे । अनर्गल आदर्श और उत्तेजना (the fanatical idea-and zeal) की उद्दामता से मुक्त होकर, वास्तविकता से परे की प्रमाद-प्रवृत्ति से दूर होकर यदि विचार किया जाय तो साहित्य कब समाजवादी नहीं

रहा; वह तो अपनी चिरन्तनता की डोर से समाज के साथ बँधा हुआ है। समाज की भावनाओं की सौरभ ही तो साहित्य है। फिर समाजवादी व्यक्तियों को इतना व्यग्र एवं उत्तेजक होने की आवश्यकता ही क्या है? जब समाज की भावनाएँ इतनी विदग्ध एवं विचारणीय तथा मर्मस्पर्शी हो जाती हैं तब क्या कभी कवि का कंठ प्रशांत और मूक रह सकता है? लेखक की लेखनी चुपचाप कोने में पड़ी रह सकती है? कवि विश्व का सबसे मर्म-संयुत, सबसे सुकुमार प्राणी है; वह अपने आस-पास की पीड़ा से, व्यथा से, अत्याचार से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है, अतः समाजवादियों का दोषारोपण एक क्षुद्र एवं अविचारणीय झख ही कहा जायगा।

प्रगतिशीलता का एक और नया 'वाद' आज यहाँ चल पड़ा है। इस सम्प्रदाय के प्राणी साहित्य को प्रगतिशील बनाना चाहते हैं। पर मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्य कब प्रगतिशील नहीं रहा। यदि वह प्रगतिशील नहीं रहा तो फिर वह आज जीवित कैसे है; अप्रगतिशील चीज़ कभी जीवित नहीं रह सकती। अब समझ में नहीं आता है कि ये लोग किस प्रकार उसे प्रगतिशील बनायेंगे। साहित्य बनाया नहीं जाता, वरन् बनता है। मार्क्स (Karl Marx) लेनिन (Lenin) मेज़िनी (Mazini) आदि पर अभिनन्दनशील (Eulogical) कविताएँ लिखना, और वह भी 'बाण भट्ट' की भाषा में, यदि यही प्रगतिशीलता है तो हमारा साहित्य उसको विषवत् समझता है। सर्वसामान्य के लिए साहित्य-निर्माण करने की युक्ति जो 'प्रगतिवादी' (so-called progressives) प्रस्तुत करते हैं, उसका कितना उपहास है। सर्वसामान्य के पूर्वज तो क्या 'असामान्य' शिक्षित (Extra-ordinarily cultured) व्यक्ति भी बिना कोष की सहायता के उसे नहीं समझ सकेंगे, और कविता अनुभव करने की वस्तु है, समझने की नहीं। खैर।

हाँ, तो इस अनर्गलता की प्रगति अभी प्रारम्भ हुई है और जब तक इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होगा, तब तक शायद कुछ दिन और यही धारा, यही अराजकता (mob-rule) चलती रहे, किन्तु यह वास्तव में हमारे साहित्य का गौरव ही बढ़ा रही है, क्योंकि हमारे वर्तमान साहित्य का विरोध करके यह साहित्य की स्थायी एवं विकसित अवस्था प्रमाणित करती है। दूसरे इसके विपक्ष में जो भावी साहित्य निर्मित होगा वह निस्सन्देह एक बड़ी ऊँची चीज़ होगी।

प्रकृतिवाद और यथार्थवाद

फ्रांस 'फ़ैशनों' का जन्मदाता है। नित नये-नये 'फ़ैशन' वहाँ सृष्ट होते हैं। सत्त्वरूप से (literally) प्रकृतिवाद भी एक प्रकार का 'साहित्यिक फ़ैशन'

(literary fashion) है। 'एमिल ज़ोला' इसके जन्मदाता हैं। यह यथार्थवाद के आगे की सीढ़ी है—यानी यह यथार्थवाद का 'भयंकर' रूप है; मानवता और पशुता दोनों में यहाँ कोई अंतर नहीं है। पशुता का प्राधान्य, पशुता की विजय ही, इस 'वाद' का मूल ध्येय है। ज़ोला, मोपासाँ आदि इसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

दूसरा विचार करने योग्य 'वाद' है यथार्थवाद—जो प्रकृतिवाद का ही सौम्य रूप है। इसमें 'फोटोग्राफ़िक' सत्यता (photographic fidelity) को ही मुख्य स्थान दिया जाता है।

इन दोनों 'वादों' की छाया हमारे साहित्य पर पड़ने लगी है—वास्तव में आदर्शवाद और भावनावाद ही साहित्य नहीं हैं, वरन् यदि साहित्य में 'वाद' की ही संज्ञा रखी जावे तो प्रकृतिवाद एवं यथार्थवाद का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है सावधानी से प्रयोग करने की और अपनी संस्कृति, समय और परिणाम को देखकर कार्य करने की। प्रकृतिवाद एवं यथार्थवाद में यदि कुछ उन्मुक्त दृष्टि से देखा जाय तो अनिष्टकर एवं परिहार्य कुछ भी नहीं है; गड़बड़ी उत्पन्न होती है उनके प्रयोग करने में। ज़ोला और मोपासाँ यथार्थवादी (उग्र प्रकृतिवादी) चित्रणकर्त्ता हैं, किन्तु उनके यथार्थवाद में अंकित चित्रों की नग्नता में भी एक उस नग्नता से ऊँची उत्थान की भावात्मक अनुभूति है, उनके अनुकरण करनेवाले इसको भूल जाते हैं। अतः यदि हमको इन 'वादों' की संकेत रेखा में साहित्य-सृजन करना है, मानव-भावना को यदि इन 'वादों' के चश्मे से देखना है तो उनको उस सत्य एवं सत्त्व के रूप में ही लें जो कला की प्रकृत भूमि पर स्थापित हो सके। हमें यही याद रखना है कि हम जीवन की नग्नता के चित्रण को छोड़कर जीवन के सत्य की आभा ग्रहण करें। हमारा भावी साहित्य इन्हीं दोनों प्रकार के भावों का द्वन्द्व प्रस्तुत करेगा—यह निश्चयात्मक रूप से प्रमाणित करने के लिए कि जीवन का सत्य, भावना की चिरन्तन दिव्य-द्युति जिसमें होगी, वही सच्चा साहित्यवाद है, वही परम सत्य है, विजयी है।

विज्ञान और पदार्थवाद

विज्ञान का हमारे जीवन से नित्यप्रति एक प्रगाढ़ सम्पर्क बढ़ता जा रहा है और फलस्वरूप 'कारण' और 'तर्क' की भावना बड़ी शीघ्रता एवं बड़ी प्रचण्डता से हमारे बौद्धिक क्षेत्र को प्रभावित कर रही है। धीरे धीरे इस कारण की प्रकृत-विश्लेषणी दृष्टि भावना के कोमल धरातल पर भी पड़ने लगी है। परिणाम यह है कि हमारे जीवन में भावना की अपेक्षा कारण का प्राधान्य प्रवेश पाने लगा है; अब कल्पना और भाव-प्रवणता के तरल-सिंधु पर जीवन का यथार्थ अपनी सर्वाधिकारिता प्रदर्शित करने का उपक्रम कर रहा है। पहले हम अपने को अनुभव

करते थे, अपने को देखते थे, आज हम अपने को जानते हैं और अपने अस्तित्व को पहचानते हैं। पहले हमारे सभी कार्य (विशेषकर साहित्यिक कार्य) अपने को अनुभव करने के लिए, अपने को देखने के लिए, होते थे, आज वे सब अपने को जानने के लिए होते हैं। हमारी यह अपने को जानने की साधना काव्य की बनिस्बत गद्य के अधिक समीप पड़ती है—अतः भविष्य में हमारा साहित्य काव्य-प्रधान की अपेक्षा गद्य प्रधान होगा। काव्य में एक परिवर्तन आ रहा है, वह है उसमें वस्तुवाद की अधिकता और भावना का एकाकीपन। इसको हम काव्य-धारा का परिवर्तित स्वरूप नहीं कह सकते, वरन् काव्य के ऊपर गद्य की छाप, भावना के ऊपर वस्तुवाद की प्रधानता ही कहेंगे।

इन कुछ पृष्ठों में हमने अपने भावी साहित्य-निर्माण का दिग्दर्शन किया है। वास्तव में हमें निराश होने का कोई ठोस कारण नहीं मिला, वरन् हमारे भविष्य की स्वर्णिमता, उज्ज्वलता तथा व्यापकता की ओर हमारा विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। हमारे मस्तिष्क-पट पर हमें तो उसका प्रकाश-किरणों से आलोकित चित्र ही अंकित होता हुआ प्रत्येक बार दृष्टिगत हुआ है। भविष्य हमारा प्रकाशमय है—आवश्यकता है जीवन के सत्य की और हमारी लगन की, त्याग की और साधना की—सत्य हमारी साधना हो, सत्य हमारा ध्येय हो; इसी में चिरन्तन साहित्य की आत्मा है—

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं!

—महादेवी वर्मा